लाजपत विचारमाला संख्या १

देशभक्ति की पुकार।

देशभक्त

लाला लाजपतराय जी

के

विचारों का संग्रह।

अनुवादक व संग्रहकर्ता

श्रीयुत नारायण प्रसाद अरोड़ा, बी० ए०

प्रकाशक—

भीष्म एंड ब्रदर्स,

पटकापुर, कानपुर।

प्रथम बार } दीपावली १९७६ { मूल्य १) रुपया

बृजानन्द तिवारी के प्रबन्ध से तारा प्रेस, पटकापुर कानपुर में मुद्रित

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका ।

देश में ऐसा कौन सा मनुष्य है जिसने लाला जी का नाम न सुना हो। आप की तपस्या ने राजनैतिक आन्दोलन और स्वतन्त्रता के संग्राम को धर्म के दर्जे तक पहुंचा दिया है। लाला जी के वाक्यों में वह जादू और वह वीरता है जो कायरों को भी मर्द बना देती है और वीरों का तो कहना ही क्या। आप के बचन सूखे हुए हृदयों में भी देश-भक्ति का पौधा उत्पन्न कर देते हैं। देश में हज़ारों युवक हैं जिनके हृदयों में आप के लेखों और व्याख्यानों से मातृ-भूमि के प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो गया है। इन पंक्तियों के लेखक को तो आप के ही "जातीय भविष्य" नामक लेख ने अपने प्यारे देश से प्रेम करना सिखलाया है। वह सदा आप के लेखों को बड़े चाव से पढ़ता रहा है और आप के व्याख्यानों को बड़ी श्रद्धा से सुनता रहा है।

जो आनन्द और जो उत्साह मैंने लाला जी के लेखों और व्याख्यानों से प्राप्त किया है, मैं चाहता हूं कि उसे स्थायी रूप देकर आगे काम करने वाले युवकों के लिए एकत्रित कर दूं। इसलिए मैंने निश्चय किया है कि लाला जी के अंग्रेज़ी और उर्दू के समस्त लेख राष्ट्रीय भाषा में दो दो सौ पेज की पुस्तक के रूप में निकालता रहूं।

मैंने इस कार्य को फ़तेहगढ़ जेल में आरम्भ [illegible] किया था

और उस समय तक जारी रक्खूंगा और अपने मित्रों से भी सहायता लेता रहूंगा जब तक कि लाला जी के सारे ख़यालात पुस्तकों के रूप में न प्रकाशित हो जायें।

इस माला का प्रथम पुष्प आप की भेंट है। दो सौ पेज का द्वितीय भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेगा। जो सज्जन इस माला के स्थायी ग्राहक हो जायेंगे उनसे माला के सब भागों का पौना मूल्य लिया जायगा।

जो सज्जन इस कार्य में मेरी सहायता करना चाहते हों बड़े शौक़ से कर सकते हैं। उनकी मुझपर बड़ी कृपा होगी।

यदि आप लाला जी के विचारों का प्रचार करके देश सेवा किया चाहते हैं तो आइए और इस शुभ कार्य में मेरा हाथ बटाइए।

जिन लोगों ने मेरी प्रार्थना पर लाला जी के लेखों का अनुवाद कर दिया है मैं उनका बड़ा कृतज्ञ हूं और जो अन्तिम तीन लेख मर्यादा से उद्धृत किये हैं उनके लिए पण्डित कृष्ण-कान्त जी को भी धन्यवाद देता हूं।

दास
नारायण अरोड़ा।

———:※:———

देशभक्ति की पुकार

मुक्ति का मार्ग *

भारतीय सम्पादकों को सदा के लिये यह समझ लेना चाहिये कि जब तक वे फूंक फूंक कर पैर रखने का ज्ञान सिखाते रहेंगे तब तक देश स्वतन्त्रता की ओर एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। हर बड़े काम में ख़तरा होता है। एक महान राष्ट्र को आज़ादी की लड़ाई के लिये सुसज्जित करने के विशाल उद्योग में कहीं कहीं बड़े ख़तरे होंगे। निस्सन्देह अव्यवस्था और उपद्रव को रोकने में हमें कुछ भी न उठा रखना चाहिये। मगर देश की आज़ादी की रफ़्तार तो ख़तरों का सामना करने और तकलीफें झेलने से ही तेज़ होगी। यह चाहे हम अकेले करें या समूह में। मैं तो आपके सत्याग्रह सिद्धान्त से सर्वथा सहमत हूं।

जो ज़्यादतियां अमृतसर, कसूर, गुजरानवाला और दूसरे स्थानों में जनता की ओर से हुईं उन पर मुझे बहुत अफ़सोस है।

---

* यह लाला लाजपत राय के तीन पत्रों का अनुवाद है जो उन्हों ने अमेरिका से महात्मा गांधी के नाम भेजे थे।

लेकिन देश से इतनी दूर बैठा हुआ मैं आपको बताना चाहता हूं कि आपने सत्याग्रह अस्त्र के पहले ही बार में जितनी सफलता पाई है उस पर मुझको यथेष्ट गर्व है। हमारे देश के ही नहीं किन्तु सारे संसार के इतिहास में आपकी इस कामयाबी का दूसरा उदाहरण न मिलेगा। इसने देश के राजनैतिक जीवन को कितना उन्नत कर दिया है! इस एक काम से हिन्दुस्तान का सिर संसार के सामने कितना ऊंचा होगया है!

सत्याग्रह सदा बड़ी कुशलता से और आगा पीछा निहार कर करना पड़ेगा। इस पवित्र अस्त्र को मूर्खता से प्रयोग करके हमें इसको हास्यास्पद नहीं बनाना है। परन्तु जब पूरी देख भाल और परिणामों को तौलने के बाद इसकी शरण लेना निश्चय कर लिया तब हर एक को बड़े से बड़े कष्टों के लिये उद्यत हो जाना पड़ेगा। मेरा हृदय अपने पंजाबी भाइयों के कष्टों की याद में व्याकुल हो जाता है। अमृतसर इत्यादि स्थानों में जो घटनायें हुईं उनसे मुझे कड़ी वेदना हुई है। पर साथ ही साथ देशव्यापी हड़ताल पर मुझको गर्व है। ऐसे अवसरों की सफलता रुपया आना पाई में नहीं गिनी जा सकती। और न सरकार पर पड़े हुये प्रभाव से ही इसका अन्दाज़ा हो सकता है। ऐसे कार्यों से जो जिन्दादिली और जोश पैदा होता है वही हमारी सफलता है। महात्मा जी, कम से कम मैं तो आप और अपने देश पर पहले से भी अधिक गर्व करने लगा हूं।

अब तक कांग्रेस उनको शिक्षा देने की कोशिश में लगी रही जो खुद शिक्षित थे। कांग्रेस के नेता शासकों से अपने दुख दूर कराने की फ़िक्र में थे। पर आप देशवासियों के आत्मबल को अपना बल समझते हैं। आर्थिक स्वतन्त्रता की सहायता पाकर यही आत्मबल अन्त में विजय प्राप्त करायेगा। यदि देश की उन्नति अंग्रेज़ी पढ़े लिखे मुट्ठी भर आदमियों पर ही निर्भर रही तो हमें समझ लेना चाहिये कि हमारा उत्थान कभी होने का नहीं। उस समय तक सरकार भी आपके साथ कोई रियायत न करेगी जब तक उसको यह विश्वास न हो जायगा कि आपकी माँग के पीछे सम्पूर्ण भारतीय जनता के समर्थन का बल है।

हमें अपने देशवासियों को सच्ची राजनीति का पाठ पढ़ाना पड़ेगा। कांग्रेस अब तक जिस मार्ग पर अवलम्बित रही है उससे काम न चलेगा। महात्मा जी, मुझे क्षमा कीजिये मैं कटुसत्य को साफ़ साफ़ कह डालता हूं। पुराने कांग्रेस के नेता जनता को इस काम में शामिल करने से डरते रहे हैं।

इंडो ब्रिटिश एसोसियेशन की नेकनियती पर मुझे रञ्च मात्र भी विश्वास नहीं है। और न मैं डाक्टर नैयर के अब्राम्हण दल से ही कोई सहानुभूति रखता हूं। मगर मैं आपसे पूछता हूं कि क्या इन लोगों का यह कहना कि शिक्षित कहलाने वाले

लोगों का व्यवहार साधारण जनता के प्रति शुष्क और हृदयहीन रहा है सर्वथा असत्य है? हम सदा अपनी हज़ारों और लाखों की आमदनी को रोते रहते हैं। पर क्या हमने कभी यह भी हृदय से अनुभव किया कि भारत के असंख्य ग़रीबों को भी दस पांच रुपये की ज़रूरत हो सकती है। अंग्रेज यह कहते नहीं थकते हैं कि हिन्दुस्तानी इस समय बड़े सुखी हैं। अगर डिगबी और नौरोजी जैसे महापुरुषों ने ग़रीब देश की सच्ची हालत वास्तविक अंकों में प्रकट न कर दी होती तो क्या इन बातों की असत्यता किसी प्रकार भी सबित हो सकती थी?

देश के प्रधान पत्र सम्पादकों में से कितने ऐसे हैं जिन्होंने गरीब जनता के कष्टों को उनसे मिल कर समझने की कोशिश की है। हम लोगों ने लम्बे लम्बे व्याख्यान फटकारे हैं। देश की दुर्दशा पर बेहिसाब कागज़ रंग डाले हैं। परन्तु हम में से कितने ऐसे निकलेंगे जिन्होंने देश की पददलित जनता के सम्बन्ध में सच्चा ज्ञान उनके साथ रह कर, या उनसे मिल जुल कर प्राप्त किया है। सरवेंट आफ़ इंडिया सोसायटी और बंगाल और पंजाब की सेवा समितियों ने इस ओर कुछ काम किया है। कभी कभी नेताओं ने कुछ धन भी दान रूप में दे डाला है। पर उनकी कठिनाइयों और मुसीबतों को हृदय से अनुभव करने का कष्ट भी किसी ने उठाया? इन असहाय दुखी प्राणियों के प्रति हमारा कोई कर्तव्य है इस बात की ओर शायद

हमने कभी ध्यान नहीं दिया। पहाड़ी सैरों में रुपया बर्बाद करने के कारण हम शासकों को भला बुरा कहते रहते हैं। मगर हम लोग खुद क्या करते हैं? दिमागी काम को हमने इतना उच्च स्थान दे रक्खा है कि शारीरिक परिश्रम के कामों को आज घृणा से देखा जाता है। दस हज़ार और पांच हज़ार रुपये फटकारने वाले वकील को तो अधिकार है कि वह गर्मी के तीन महीने आराम से पहाड़ों पर बितावे, पर सौ दो सौ या तीन सौ की आमदनी वाला एक किसान, व्यापारी, या क्लर्क गर्मी में भुना करे तो कोई परवा नहीं। क्या वास्तव में वकील, एक किसान या मज़दूर की अपेक्षा राष्ट्र का अधिक हित करता है? मैं बाल की खाल नहीं निकाल रहा हूं। मैंने स्वयं कुछ दिन पहले उन्हीं की तरह आचरण किया है। मेरा आशय यह है कि हमें अपने राष्ट्रीय आन्दोलन में पूरी कायापलट करनी पड़ेगी। देश उस वक़्त तक स्वतन्त्र नहीं हो सकता, बल्कि उस वक़्त तक स्वतन्त्र होने के योग्य नहीं है, जब तक उसमें ऐसे नेता नहीं उत्पन्न होते जो अधिकारियों के बजाय अपने ही जन साधारण को स्वतन्त्रता के मार्ग के पथ प्रदर्शक मानें।

मैं साफ़ कह देना चाहता हूं कि भारतवर्ष की जनता अपने शिक्षित नेताओं से अधिक ईमानदार, अधिक सच्ची और अधिक आत्मत्यागी है। वह निडर है और कायदे से झूठ बोलने में दक्ष नहीं है। ये जन साधारण अगर झूठ भी बोलेंगे तो आप उनके मन

की जान लेंगे। हम में से कौन झूठ नहीं बोलता? कोई झूठ बोल कर भी उसे सच्चाई का रूप देते है। कोई शुद्ध बेमेल झूठ बोलते है। एक मामूली मिल का मज़दूर इंगलैंड के बड़े बड़े धुरन्धर राजनीतिज्ञों की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा होता है। बिचारा मज़दूर किसी को लूटता नहीं, किसी को धोखा नहीं देता, किसी को खलता नहीं। अपने पसीने की कमाई खाता है और निश्छल जीवन व्यतीत करता है। यही हाल हिन्दुस्तान मे है। भारतीय जनता को इस समय सांख्य तथा वेदान्त के गूढ़ और गहन सिद्धांतो की आवश्यकता नहीं। स्वराज्य की स्कीम पर सूक्ष्म व्याख्यायें करने से भी मतलब न निकलेगा। आवश्यकता यह है कि शिक्षित देशवासी आम लोगों के साथ बराबरी और भाईचारे का वर्ताव करें। उनके प्रति सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करें। और अपने रहन सहन से ऐसा सम्बन्ध पैदा करलें कि एक दूसरे के साथ बे-रोक टोक और दिल खोल कर मिल सकें। इस एक बात से देश का जो कल्याण होगा वह सैकड़ो वर्षों के उपदेशों और गज़ो लम्बे प्रस्तावों से नहीं हो सकता। मैंने संसार के सर्वोन्नत देशों में भ्रमण किया है। मैं कह सकता हूं कि भारत का साधारण मनुष्य दूसरे देशों के वैसे ही व्यक्ति से अधिक बुद्धिमान, अधिक समझदार और कम हठी है। अब हम नकली और बनावटी बातों को छोड़कर सत्य का सहारा लें तो

अच्छा हो। हमें अपने देशवासियों को उस प्रबल शक्ति का ज्ञान कराना है जो उनमें छिपी हुई हैं। यह हम उनके साथ सहकारिता के भाव से काम करके ही उत्पन्न कर सकते हैं। उनकी हितैषिता की डींग मार कर और उनसे अलग रह कर नहीं।

मेरी समझ में देश की सबसे बड़ी आवश्यकता भारतीय जन साधारण की आर्थिक उन्नति करके उन्हें समुचित शिक्षा देना है। अगर हिन्दुस्तान के पत्रों पर मेरा कोई प्रभाव होता तो मैं प्रार्थना करता कि हरएक पत्र के प्रथम पृष्ठ पर बड़े २ अक्षरों में निम्न लिखित वाक्य नित्य छपा करें :—

देश की सब से बड़ी ज़रूरत।

बच्चों के लिए दूध।

स्त्री पुरुषों के लिए भोजन।

शिक्षा सब के लिए।

वर्तमान सरकार या तो इन आवश्यकताओं को पूरा करे या हमें स्वयं अपने मुल्क का प्रबन्ध करने दे। देशवासियों को यह समझा दिया जाय कि दूध सबसे पहले नन्हें बच्चों को मिलना। बच्चों के बाद माताओं, रोगियों और अशक्तों का अधिकार है।

उस समय तक कोई आराम और आशाइस के सामान नहीं पा सकता, चाहे वह शासक ही क्यों न हो, जब तक प्रत्येक हिन्दुस्तानी स्त्री पुरुष को पेट भर खाना नहीं मिल जाता।

प्रत्येक जिले में एक ऐसा संगठन पैदा करना होगा जिस की सहायता से सम्पूर्ण देश की आर्थिक दशा का पूरा और सच्चा अनन्वेषण हो सके। इन संगठनों के द्वारा हमें ऐसे ठीक शजरे तैयार करने चाहिये जिससे यह भली भांति प्रकट हो सके कि उत्तम जीवन विताने के वास्ते कम से कम कितने और कैसे भोजन-वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है। उस समय हम अधिकारियों के उन असत्य कथनों का मुंह तोड़ उत्तर देसकेंगे जिन में हिन्दुस्तान की बढ़ती हुई समृद्धि के तराने गाये गये हैं। दक्षिण भारत के अब्राम्हण दल वाले इसी काम को हाथ में क्यों नहीं लेते हैं। मेरे विचार से अब समय आगया है कि देश के राजनैतिक आन्दोलनकारी नेता भविष्य में शाब्दिक व्यापार के स्थान पर देश की वास्तविक दशा को जानने के कठिन काम को अपनावें। कृपया मेरा आशय समझने में भूल न कीजियेगा। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि केवल अंक तैयार करने से देश की दरिद्रता चली जावेगी। इन अंकों से तो यह दरिद्रता जितना प्रकट हो सकेगी उतना शायद और किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। इस समय हमारे सामने काम यह है कि एक देशव्यापी आर्थिक संगठन हो जिसका आरम्भ किसानों

और मज़दूरों से किया जाय। हमें जड़ का सुधार कर लेना चाहिये। पेड़ का सुधार आप ही हो जायगा। मैं चाहता हूं कि राजनैतिक और आर्थिक सुधार साथ ही साथ होते जांय। हमारा धर्म है कि अब हम राष्ट्र को आकर्षक शब्दों से भुलावे में न डाल कर सचाई से परिचित बनावें।

❀ ❀ ❀ ❀

(१) जो राष्ट्र सार्वभौमिक साम्राज्य फैलाने के स्वप्न देखा करता है उसको और इन स्वप्नों को सत्य कर दिखाने की जिसमें ताक़त है न्याय, स्वतन्त्रता और प्रजासत्ता से अधिक सरोकार नहीं हो सकता। साम्राज्यवाद और ये उच्च भावनायें एक दूसरे के स्वभावतः विरुद्ध हैं। आप चाहें तो इन राष्ट्रों के निवासियों की शक्ति और कुटिलनीतिज्ञता, पाशविक बल और सभ्य स्वार्थपरता की सराहना कर सकते हैं। पर उनके न्याय भाव और स्वातंत्र्य प्रेम के गीत गाना सत्य पर कुठाराघात करना है। इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता कि आप ऐसा जान बूझ कर क्षणिक लाभ की दृष्टि से करें या बिना जाने स्वभाव वश। मेरी राय में जो देश के नेता जनता के सामने अंग्रेज़ों के स्वतन्त्रता प्रेम की दुहाई दिया करते हैं और बृटिश न्याय के ढोल बजाया करते हैं वे अपने देशवासियों को धोखे में डाल कर मातृभूमि की उन्नति के मार्ग में ख़ुद रोड़े अटका रहे हैं। जनता को स्थिति की

असलीयत साफ़ साफ़ बताकर उसको उत्थान के मार्ग में लगाने के बजाय ये नेतागण बड़े २ शब्दों से सचाई को छिपा देते हैं और इस प्रकार अपने देश के हक़ मे वहुत बुराई करते है। बृटिश साम्राज्य उतना ही ख़ुदग़रज़ और उतना ही एक सत्तात्मक है जितना कि संसार के इतिहास मे कभी कोई साम्राज्य हुआ है। अगर हमे करना ही है तो न्याय के नाम पर अंग्रेज़ से जितनी चाहे प्रार्थनायें किया करे मगर हम इस धोखे मे न रहे कि संसार के दूसरे साम्राज्यों के न्याय से बृटिश न्याय किसी प्रकार अच्छा होगा। बृटिश साम्राज्य के इतिहास में एक वार भी किसी एक अधीनस्थ देश या उपनिवेश के साथ भी न्याय करने का तब तक नाम नही लिया गया जब तक टेढ़ी परिस्थितियो के चक्कर में पड़कर और अपने कल्याण के भावों से प्रेरित होकर उसे वाध्य नही होना पड़ा। दक्षिण अफ्रीका को ही ले लीजिये, क्या सर हेनरी कैम्बेल वैनरमैन ने जो स्वराज्य (डोमीनियन होमरूल) दिया था वह कोरे न्याय के प्रेम से था, या उसमे कुछ अपना स्वार्थ भी था।

(२) साथ ही साथ मेरा यह भी विश्वास है कि रूस और अमरीका को छोड़ कर और सब देशों की अपेक्षा ग्रेट बृटेन में सच्चे संसार हितचिन्तक विद्वानों की वड़ी मात्रा है। इसमें सन्देह नहीं कि ये 'वसुधैव कुटुम्बकम' मानने वाले महापुरुष सब जातियों को स्वतन्त्र करने और उनके साथ न्याय किये जाने

के हामी हैं। किन्तु इनकी संख्या इतनी कम है कि इनके मतों का प्रभाव बृटिश सरकार पर नाम मात्र को ही पड़ता है।

(२) सिर्फ ग्रेट बृटेन के साम्यवादी और श्रमजीवी दल से ही अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की अपील करने से कुछ लाभ हो सकता है। वहां के उदार दल वालों में भी कई सच्ची और महान आत्मायें हैं। पर अधिकांश उनमें कुटिल साम्राज्यवादी हैं। बल्कि मेरी समझ में इनका साम्राज्यवाद परतन्त्र देशों के हक़ में अनुदार दल के नेताओं से भी अधिक हानिकारक है। अनुदार या टोरी दल वाले सफ़ेद झूठ का सहारा नहीं लेते। ये अपनी राजनीति में बड़े मुंहफट और स्पष्टवक्ता होते हैं। दूध-पानी वाली उदारता स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले देश के लिए अत्यन्त भयावह है। पराधीन देश तो यह चाहता है कि उसको अपने शासकों के दिल की बात मालूम हो जाय ताकि वह अपना मार्ग उसी प्रकार निर्धारित कर ले। टोरी लोग अपनी आर्थिक नीति में अधिक नेकनीयत साबित हुये हैं। दोनों दल पक्के साम्राज्यवादी हैं। हां, उदारों की तरह अनुदार दल वाले सिद्धान्त में ही प्रजासत्ता के प्रेमी बनने का ढोंग नहीं रचते। उदार कहलाने वाले अंग्रेज़ न्याय, स्वतन्त्रता और प्रजासत्ता की बेहद बकवास किया करते हैं। किन्तु जब काम करने का मौक़ा आता है तब ये कट्टर अनुदारों से भी गिर जाते हैं।

(४) मेरी समझ में भारतीय नेताओं को चाहिये कि वे अपनी जनता के सामने पूरा और वास्तविक 'सत्य' रख दें। शायद अंग्रेज़ी कानून उनको पूरा 'सत्य' न कहने देगा। कुछ भी हो भारतवासियों को यह हृदयङ्गम कर लेना पड़ेगा कि इंगलैंड के उदारदल से अपील करना भारी मूर्खता है। ये उदार हमारा कुछ भी हित नहीं कर सकते। "बृटिश न्याय" और "बृटिश स्वातंत्र्य प्रेम" के विज्ञापन जो बुड्ढे नेता देश में दिया करते थे उन पर विश्वास करना स्वयं अपने को धोखा देना है। 'न्याय' ग्रेट बृटेन में ही कहां फटा पड़ता है। वहां भी जब शासक और शासित के स्वार्थ आपस में लड़जाते हैं तो शासक दल अपने ही देशवासियों को उसी प्रकार निर्दयता के साथ दवा देता है जिस प्रकार भारतवर्ष में।

इंगलैंड के मज़दूरदल ने संगठित कार्य्य और 'वोट' की शक्ति की सहायता से अपनी राजनैतिक और आर्थिक दशा को खूब सुधार लिया है। वहां जो प्रार्थनायें शासकों से की जाती हैं वे उसी प्रकार निरर्थक सिद्ध होती हैं जिस प्रकार भारतवर्ष में। अंग्रेज़ जनता ने जो अधिकार प्राप्त किये हैं वे सगठन शक्ति के वल से ही किये हैं। यदि भारतवासी अपने अधिकार लेना चाहते हैं तो उन्हें भी देशव्यापी संगठन करना होगा। न्याय की दुहाई देने से कभी कुछ न मिलेगा भारतवासियों को भी वे सब तरकीवें चलनी पड़ेंगी जो

अमरीका और ग्रेट बृटेन के शासित समुदाय ने चली हैं। और जो अब भी अपने हितों की रक्षा के लिये की जा रही हैं। इन देशों में भी हिंसा और उपद्रव से काम नहीं लिया जाता। यह नीति-धर्म की दृष्टि से नहीं। किन्तु इसलिये कि यह सब कर सकना सम्भव ही नहीं है। संगठित और व्यवस्थित सरकार के विरुद्ध उपद्रव करना या उपद्रव की धमकी देना वहां व्यर्थ और पतित समझा जाता है। यह उन देशों का हाल है जहां प्रत्येक मनुष्य को हथियार रखने और हथियार चलाना सीखने का पूरा अधिकार है। हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में तो इस बात का और भी महत्व हो जाता है। नीति और धर्म तो अलग रहा, मारकाट और उपद्रव से अंग्रेजों को हिन्दुस्तान से निकाल देने की नीति पर विश्वास करना भारी मूर्खता है। देश के जो नौजवान अपनी जन्मभूमि को स्वतन्त्र देखना चाहते हैं उन्हें अपने जोश को रोकना चाहिये। मैं मानता हूं कि कुछ अवसरों पर क्रोध को रोकना और कायर कहलाना बहुत कठिन हो जाता है। देश का या अपना अपमान सह लेने के पक्ष में मैं हरगिज़ नहीं हूं। परन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि मारकाट से आज़ाद होने की आशा करना व्यर्थ है। गुप्त षड़यंत्रों के विषय में मैं पहले ही लिख चुका हूं। उससे अधिक यहां मुझे कुछ नहीं कहना है।

* * * *

कुछ दिन हुवे आपकी इच्छानुकूल मैंने एक लम्बा पत्र आपको लिखा था। उसमें मैने अपने उन विचारों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया था जिनकी ओर पहले पत्र मे सिर्फ सूक्ष्म रूपसे इशारा कर दिया था। उस पत्र के लिखने के बाद मै इस विचार मे डूबा रहा कि शायद मैंने अपने शिक्षित देशवासियों और वयोवृद्ध नेताओ की ज़रा कड़ी और अनुचित समालोचना कर डाली। मैं अब सोचता हूं कि जो शिक्षा उनको दी गई और जिन परिस्थितियों में उनका पालनपोषण हुआ उनसे प्रभावित होकर क्या वे इस से विभिन्न कुछ कर सकते थे ? क्या ऐसी दशा मे उनकी करतूतो की ज़िम्मेदारी उस शिक्षा पद्धति पर नही है जो इस समय देशमें प्रचलित है ? शिक्षा पर मैंने अपने विचार एक लेखमाला में प्रकट किये है। इनमें से कुछ तो "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित हुए थे और बाक़ी एक किताब में मिलेंगे जो शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।*

मैं समझता हूं कि अब तक हम लोगो ने शिक्षा की मशीन के कल-पुर्जों पर अधिक और अनावश्यक ध्यान दिया है। पर शिक्षा के उद्देशों और आदर्शों और समुचित तरीको पर बहुत कम। अब यदि हम उचित मार्गों पर ही विचार करें तो हमें उनको

---

*"भारतवर्ष में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न" नामक पुस्तक छप चुकी है।

'प्राचीन' और 'अर्वाचीन' दो भागों में बाटना पड़ेगा। 'अर्वाचीन' शब्द के अन्दर हम उन बिचारों को शामिल करते हैं जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद से संसार को अपने पंजे में जकड़े हुए हैं। 'प्राचीन' शब्दसे हम उन सारी शिक्षा पद्धतियों को समझते हैं जो इस व्यापारिक क्रान्ति के पहले संसार में प्रचलित थीं। हमारे पूर्वज मरने के बाद की दशा या परलोक की चिन्ता, धर्मशास्त्रों को रटने, भाषाओं के अध्ययन करने, कर्मकाण्ड और मन्त्रों के चक्कर में थे। वे कहते थे कि शरीर की अपेक्षा हम आत्मा की अधिक परवाह करते है। इसीलिये अपने शरीर को अनावश्यक यातनायें देते थे और इस प्रकार का जीवन बिताते थे जो आज कल अस्वाभाविक समझा जाता है। पहले तो संस्कृत भाषा सीखने केलिये वे व्याकरण और वाक्य विचार, छन्द और उच्चारण में ही ज़िन्दगी के अमूल्य वर्ष लगा देते थे। इस से जीवन का जो भाग बचता था वह मन्त्रों के घोषने और कर्मकाण्ड की क्रियाओं में खर्च हो जाता था। उस समय का धर्म मन्त्रों के उच्चारण और कर्मकाण्ड के क़ायदों पर ही ख़तम हो जाता था। धर्म उस ज़माने में भाव पर नहीं रूप पर, चरित्र पर नही रूढ़ियों पर, कामों पर नहीं विश्वासों पर निर्भर था। यही कारण है कि प्राचीन पद्धति को पुनर्जीवित करते समय हम उन प्राचीन दिखावटी बातों से अब तक अपना पीछा नहीं छुटा सके हैं। यहा तक

कि मये धार्मिक पाठशालाओं में भी धर्म बाहरी रूप और मन्त्रों, रूढ़ियों और सम्प्रदायों, धर्म पुस्तकों और शास्त्रों में गड़ा समझा जाता है। हमारे आचार्य्य और अध्यापक लोग भी जब उपनिषदों के अर्थ समझाने लगते हैं तो विषय के शब्दों पर बहुत ज़ोर देते हैं उनके मर्म पर बिल्कुल नहीं। इन ग्रन्थों के वाक्यों का उद्धरण लोग अपने २ सम्प्रदाय के पक्ष समर्थन में किया करते हैं। देश को इस समय धर्म की आवश्यकता है न कि संप्रदायों की। सम्प्रदाय हमें अपना आत्मा पाने में मदद नहीं करता। औरकरता भी है तो नाम मात्र को हमारी आत्मोन्नति केवल 'आत्मदर्शन' से हो सकती है। और साथ ही साथ इस आन्तरिक अनुभव के अनुसार अपना आचरण सुधारने से। जब तक आदमी के भीतरी ज्ञान और बाहरी आचरण में मेल और समता नहीं होती उसके विचार भाव और कार्य्य एक से पवित्र नहीं होते, तब तक वह धर्म की ज़िन्दगी बिताने वाला नहीं कहा जासकता।

इस लिए जो शिक्षा हममें उपरोक्त शक्ति नहीं उत्पन्न कर सकती वह धार्मिक कहलाने की अधिकारणी नहीं है। धर्म केवल ध्यान को नहीं कहते। ध्यान और कर्तव्य दोनों के मिलने से धर्म बनता है। धर्म पढ़ाया नहीं जासकता। धर्म का विकास होता है। धर्म उस ज़मीन में नहीं बढ़ सकता जिसमें विश्वास और आचरण की पारस्परिक विभिन्नता के कांटे लगे हैं।

जिन मनुष्यों को ख़्वामख़ाह राजभक्ति के गीत गाने पड़ते हों, ऐसे प्रस्ताव पास करने पड़ते हों जिन पर उन्हें विश्वास नहीं, उनको पूजना पड़ता हो जिनको वे हृदय से घृणा करते हैं, अपने उन विचारों को ज़बरदस्ती छिपाना पड़ता हो जिनको उन्हें ज़ाहिर करने की इच्छा है, वे जब धर्म सिखाने चलते हैं तब धर्म की भी मिट्टी पलीद करते हैं। जो सत्य धर्म के लिए बलिदान होने को तैयार न हों उन्हें धर्म की शिक्षा देने का साहस न करना चाहिए। मेरा विश्वास है कि निर्जीव, सत्यहीन और बिगाड़ा हुआ धर्म पालन करने वालों के लिये बड़ा भयानक होता है। धर्म की ज़िन्दगी को रोजाना कामों से अलग करना बड़ा ख़तरनाक है। फिर धर्म के नाम से और 'कर्म सिद्धान्त' को बुनियाद पर (हिन्दू) समाज के वर्तमान रूप का समर्थन करना और सम्पत्ति, उत्तराधिकार और विवाह एवं कानून और शासन के विषय में अब तक के प्रचलित विचारों का पक्ष लेना असत्य की सहायता करना है।

इसके विपरीत अर्वाचीन या आधुनिक शिक्षा प्रणाली में दूसरे अवगुण हैं। आजकल की शिक्षा कोर्स की (नियत) पुस्तकों, परीक्षाओं और सर्टीफिकटों में दफ़न रहती है।

यह शिक्षा भी सम्पत्ति, विवाह, शासन और नियम के

अर्वाचीन विचारों को ही ठीक ठहराती है और उनकी तारीफ के पुल बांधती है। जिस वायुमण्डल में हम शिक्षित और पालित पोषित हुये हैं उसमें धन और सम्पत्ति को ईश्वर का स्थान दिया गया है।

एक ओर तो हम 'निराकार, निर्गुण, न्यायकारी, दयालु, और सर्वज्ञ' परमेश्वर पर शास्त्रार्थ किया करते है दूसरी ओर हमारी शिक्षा और रहन सहन हमे हर वक्त यह सिखाया करते हैं कि हमको सुवर्ण देव की पूजा और वन्दना करके उसी की प्राप्ति के लिये निरंतर यत्न करना चाहिये। जो लोग हमें अध्यात्म का पाठ पढ़ाया करते हैं और रुपये पैसे को तिरस्कार करने का उपदेश देते रहते है वे भी अपने उदाहरण से उसी मुद्रा देवी की उपासना की ओर संकेत करते हैं।

देश के कुछ महान आचार्यों और नेताओं ने कर्तव्य और धर्म के लिये ग़रीबी का जीवन व्यतीत कर के एक प्रशंसनीय आदर्श हमारे सामने रक्खा है। मेरे हृदय में उनके लिये प्रगाढ़ आदर का भाव है। लेकिन मुझे यह देख कर बड़ा दुःख होता है कि ये लोग स्वयं अपने सोचे हुये देशोन्नति के मार्गों को सफली भूत बनाने के लिये धन दौलत को उतना ही महत्व देते हैं जितना कि एक साधारण सांसारिक जीव । कारण यह है कि अपने

सिद्धान्तों को कार्यरूप देने के लिये जो ज़रिये सोचे जाते हैं उनको चलाने के वास्ते रुपये की आवश्यकता होती है। रुपया रुपये-वाले के पास गये बिना कैसे मिले। इसलिये इन अमीर पूंजीवालों की चापलूसी करनी पड़ती है। इन को, येन केन प्रकारेण प्रसन्न करना पड़ता है। बस ज्योंही एक धर्म परायण व्यक्ति ऐसा करने पर उतर आता है त्योंही उसका पतन होने लगता है। अनजान में वह असत्य और अर्धसत्य की शरण लेकर जिन तरीक़ों से काम निकालता है वे किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं कहे जा सकते। इसमें शक नहीं कि उसका निकटवर्ती उद्देश्य तो पूरा होजाता है, यानी अपने स्कूल, कालेज, अनाथालय या सभा के संचालन के लिये आर्थिक सहायता तो मिल जाती है परन्तु इस प्रकार समाज के अंग में एक भयंकर विष व्याप्त हो जाता है। वह धार्मिक पुरुष उन आदमियों की प्रशंसा करता है जिन के धन पैदा करने के तरीक़ों को वह स्वयं नापसन्द करता है। वह उन्हें जान बूझ कर आसमान पर चढ़ाने की कोशिश करता है। उन्हें उन संस्थाओं के प्रबन्ध में अधिकार देता है जिन के सञ्चालन के लिए उसे धन मिला है।

यह सब किया तो उच्च उद्देश्यों से जाता है लेकिन इसका परिणाम यह होता है कि पाप नाशों से

उपार्जित धन को सर्वोच्च पद मिल जाता है। लोग कहा करते हैं कि जो धन हमें सत्कार्य के लिए मिलता है उसकी आमद के रास्तों की खोज करना हमारा काम नहीं है। हमारे लिए इतना काफ़ी है कि अच्छी संस्थाओं के लिए अच्छा धन मिल रहा है। दान देने वालों के न्यायधीश बन बैठने से हमको मतलब? मेरी राय में यह कोरी कुतर्कना है। जो शिक्षा हमें मिलती है वह उन आदमियों को प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखने का आदेश देती है जो बेईमान और पतित होते हुये भी चालाक हैं, जो अपनी तीव्र बुद्धि से अपने कमअक़्ल भाइयों को नीचा दिखाने का काम लेते हैं, जो तर्क और तत्वज्ञान तथा कानून और साहित्य के ज्ञान का लक्ष्य ऊंचे पद और लम्बी रकमें समझते हैं।

आप स्कूली किताबों पर निगाह डालिये, चाहे मास्टरों के आत्माओं को टटोलिये, चाहे शिक्षा विभागके अधिकारियों की मानसिक प्रवृतियों को देखिये, चाहे इज्जत और बड़प्पनके प्रचलित विचारों की मीमांसा कीजिये, हर तरफ़ अमीरों और पृथ्वीपतियों का निष्कंटक राज्य है।

आप किसी न्यायालय में जाकर एक साधारण मुक़दमें में गवाहियों से जो जिरह की जाती है उसको सुनिये तो पता चलेगा कि गवाही के इज्जतदार होने का सबूत उसकी जायदाद और रुपये की थैलियों से लिया जाता है।

हम यह जानकर भी कि किसी धनाढ्य पुरुष ने अपनी सम्पत्ति रिश्वत लेकर, झूठी प्रशंसा करके अथवा अन्याय से जमा की है, उसकी प्रतिष्ठा करते हैं और दूसरों को उसकी प्रतिष्ठा करने का आदेश करते हैं, क्योंकि वह धनाढ्य है। इस सम्बन्ध में हम दुविधा में फंस जाते हैं। हमारे ऊपर ऐसी जाति का शासन है जिसका देवता द्रव्य है। अपनी रक्षा करने के लिए हमें (१) बाहर निकल जाने वाली बाढ़ को रोकने के लिए बांध बांधना पड़ता है, (२) रुपया कमाने के लिए हमें भी उन्हीं उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है जिससे वे लोग धनाढ्य हुए हैं और (३) उन्हीं का सा जीवनोद्देश्य ग्रहण करना पड़ता है। अपने शासकों की प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए हमें भी प्रतिष्ठा की वेही कुछ बातें ग्रहण करनी पड़ती हैं जिनको उन्होंने प्रचलित कर रक्खा है। कुछ बातों को तो हमने समझ बूझकर स्वीकार कर लिया है और कुछ को हम अपने आचरण और व्यवहार में केवल इसलिए लाते हैं कि हमारे शासक प्रसन्न हों। हम ऐसा करने के लिए मजबूर हैं। मुख्य बात यह है कि जो विचार हमें रात दिन सताया करता है और जो हमारे उचित और अनुचित की कसौटी है वह है हमारे हाकिमों की मंज़ूरी। जिस समय हमें उनकी मंज़ूरी की बाट नहीं जोहनी पड़ती उस समय भी हमें यह डर लगा रहता है कि कहीं हमारे शासकगण हमारे

इस कार्य्य से अप्रसन्न न हो जायें। हमारे कार्य्य व्यवहार का सूत्रपात निम्न लिखित कारणों से होता है:—

(१) अपने शासकों की स्वीकृति और कृपा प्राप्त करने की अभिलाषा (२) सुख से जीवन व्यतीत करने और धनवान और प्रतिष्ठित होने (जो व्यावहारिक रीति से एक ही बात है) की इच्छा, (३) और उनकी अप्रसन्नता से बचने की ख़्वाहिश। हमारी निजी प्रकृति और धर्म में से जो कुछ बच रहता है वह इसके बाद आता है। यहां पर मैं अपने मतलब को साफ़ कर देना चाहता हूं ताकि कुछ का कुछ अर्थ न लगा लिया जाये। मैं त्याग या वैराग्य का प्रचार नहीं कर रहा हूं। मैं धन के उत्पादन और प्रयोग मे विश्वास करता हूं किन्तु मैं (व्यक्तिगत और राष्ट्रीय कामों मे) प्रयोग करने ही के लिए धन को उत्पन्न करने में विश्वास करता हूं और जमा करने, बेहद मुनाफ़ा उठाने और दूसरों को लूटने में नहीं। यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में मैं यहां पर वादाविवाद नहीं कर सकता।

यहां तक मेरी समझ में साफ साफ़ आ जाता है परन्तु आगे नहीं। मैं अब तक यह नहीं जान सका कि वर्तमान पतन से किस प्रकार मुक्ति मिले और जीवन तथा समाज का धार्मिक नींव पर किस प्रकार संगठन हो कि सब लोगों को सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक न्याय प्राप्त हो। किन्तु एक

बात का मुझे पक्का विश्वास है और वह यह है कि यदि समाज की नीव उपराचढ़ी पर निर्भर है तो आप उपरोक्त प्रकार का समाज कदापि नहीं बना सकते। जो कुछ हम कर सकते हैं वह यह है कि हम मिलजुल कर काम करने के शुभ-सन्देश का प्रचार करें, यथा सम्भव उसके अनुसार काम करने का प्रयत्न करें, अपने देश के ग़रीब श्रेणी के लोगों—किसान और मज़दूरों-को उचित विचारों से परिचित कराना आरम्भ करदें और मिलजुल कर काम करने के लिए उन्हें संगठित करें। सब श्रेणी के लोगों को यह अनुभव करना आवश्यक है कि मुक्ति भीतर ही से प्राप्त हो सकती है अर्थात् आपस के सहयोग से, एक दूसरे को सहायता करने से और एक दूसरे का विश्वास करने से। बाहर से मुक्ति कदापि नहीं मिल सकती अर्थात् निरन्तर, निर्दयी, निर्जीव और हृदयहीन चढ़ाउपरी से, और न कृपा और करुणा की प्रार्थना करने से। कोई प्रत्यक्ष परिणाम प्राप्त करने के लिए ऐसा करने से शायद हमें बहुत अधिक समय लगे परन्तु राष्ट्रों का निर्माण महीनों में नहीं होता। संसार के विचारों का प्रवाह उस ओर जा रहा है और वह हमको अपने लक्ष की ओर आगे बढ़ने में सहायता करेगा। किन्तु यह तभी हो सकता है जब हम यह दृढ़ निश्चय करलें कि हम आगे ही बढ़ते जायंगे, आंख बन्द करके, बिना हाथ पैर हिलाये और बिना विचारे नहीं, किन्तु समझ

बूझ कर, हाथ पैर हिलाकर और विचारपूर्ण रीति से। हमारे सामने प्रश्न यह है कि समाज के वर्तमान राजनैतिक और आर्थिक संगठन के होते हुए हम काम किस प्रकार आरम्भ करें। जो कुछ हम करना चाहते हैं वह यह है कि हम उपरोक्त प्रणाली से कार्य्य करना आरम्भ करदें किन्तु वर्तमान राष्ट्रीय कार्यों को तनिक भी हानि न पहुंचावें और न किसी प्रकार उनके मार्ग में कोई रुकावट डालें अथवा किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करें।

इस विषय पर मेरे कुछ निजी विचार हैं जिनको मैं किसी दूसरे पत्र में और किसी दूसरे समय लिखूंगा।*
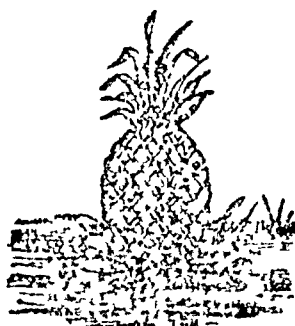
* इस लेख का अनुवाद पं० उमाशङ्कर दीक्षित ने मेरे लिए आगरा जेल में किया था।

देशभक्ति—जीवन का उद्देश्य *

प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रेम के भाव होना एक स्वाभाविक बात है। किन्तु प्रेम दो प्रकार का होता है। एक तो स्वार्थपूर्ण प्रेम, जिसका अर्थ यह होता है कि तत्कालीन लाभ का ध्यान सदा दृष्टि में रक्खा जाय। और दूसरा निस्वार्थ प्रेम, जो सदा हमें सार्वजनिक लाभ के कार्य्य करने के लिए उत्साहित करता रहता है। इस प्रकार का प्रेम उतना ही अधिक या कम होता है जितना कि हम में प्रेम के भाव होते हैं और हमारे उद्देश्य में हमारा कोई निजी स्वार्थ नहीं होता।

स्वार्थपूर्ण प्रेम हमारे मन को शान्त नहीं कर सकता और आनन्द प्राप्ति के लिए जो मनुष्य की आन्तरिक इच्छा होती है न उसे ही पूरा कर सकता है। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए हम सब को कुछ न कुछ निस्स्वार्थ कार्य्य अवश्य करना ही होगा। कोई देश उस समय तक उन्नतिशाली नहीं हो सकता जब तक उसके पुत्र और पुत्रियों के हृदय में उसके प्रति स्वार्थ रहित भक्ति का वास्तविक भाव भर न जाये और वे देश हित के सामने अपने निजी लाभों को दबाने के लिए तैय्यार न हो जायें।

जापानियों ने हाल ही में दिखला दिया है कि देशभक्ति

---

* अम्बाले की अनाजमण्डी में दिया हुआ व्याख्यान

का जोश कितने उच्च शिखर तक पहुंच सकता है। एक माता अपने पेट में छूरा इसलिए भोंक लेती है कि उसका पुत्र उसके भरण पोषण की चिन्ता के बोझ से मुक्त हो जाये और लड़ाई में जाकर अपने देश के लिए प्राण दे सके। मल्लाहो की एक अन-गणित संख्या जहाज़ों के साथ अपने आप को पोर्टआर्थर के सामने अपने देश की रक्षा के लिए डुबा देती है। ये ऐसे उदा-हरण है जो देश की लाज के गम्भीर प्रेम के बिना और किसी प्रकार किये ही नही जा सकते। धन का लोभ और झूठी बड़ाई का ख्याल तो इन कामो को कभी करा ही नही सकता। युरोपीय देशों मे, जहांकि जातीय देशभक्ति के बड़े बड़े क़िस्से प्रचलित है, इस प्रकार की उच्च भक्ति के उदाहरण कम मिलते है।

हमारे देश जैसे पतित देश को अपनी सेवा के लिए ऐसे स्वार्थ रहित सेवकों की नितान्त आवश्यकता है जो धन या शक्ति से कदापि नही प्राप्त हो सकते। इस प्रकार के लोग हमारे प्रशंसनीय प्राचीन समय में बहुत थे जबकि हमारे देश की नैतिक और शारीरिक योग्यता उन्नति और आनन्द के महान उच्च शिखर तक पहुंच गई थी।

अभी बहुत दिन नहीं हुए जबकि हमारी सारी आवश्य-कताएं देश की ही बनी हुई चीज़ों से पूरी हो जाती थी। हमें

अपनी वर्तमान निस्सहाय अवस्था पर बड़ा दुख है। हम विदेशियों पर बिलकुल निर्भर हैं और जिस धन को हम अपने गाढ़े पसीने से कमाते हैं उसका विशेष भाग ये लोग चूस ले जाते हैं। इस प्रकार धन के चले जाने ही के कारण हमारे यहां बहुधा अकाल पड़ते हैं और महामारी बनी रहती है। जिस का शिकार अधिकतर गरीब ही लोग होते हैं क्योंकि उन्हें पर्याप्त और लाभदायक भोजन नहीं मिलता। लार्ड कर्ज़न की सरकार ने यह अन्दाज़ा लगाया था कि उस समय एक भारत-वासी की औसत आमदनी तीस रुपया सालथी अर्थात ढाई रुपया महीना। जब यह औसत है तब बहुत से ऐसे लोग अवश्य होंगे जो डेढ़ रुपया या एक रुपया प्रति मास पर ही गुजर करते होंगे। यह एक रहस्य है कि एक मनुष्य इतनी थोड़ी आमदनी से एक मास तक अपने लिए कम से कम भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध कर सकता है। इससे तो आधे पेट रह कर भी काम चलना कठिन मालूम पड़ता है।

बात यह है कि सात करोड़ ऐसे मनुष्य हैं जो दिन भर में एक ही समय भोजन पाते हैं और ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो केवल तृणों की जड़ों और डालों ही पर बसर करते हैं। लग-भग चालीस पचास हज़ार मनुष्य प्रति सप्ताह प्लेग तथा अन्य बीमारियों के द्वारा कराल काल के मुंह में समा जाते हैं।

जिस देश की आत्मकहानी इस प्रकार दुख और दुर्दशा की हृदयविदारक घटनाओं से पूर्ण हो उसका भविष्य कभी आशा जनक नहीं हो सकता। युरोपियन लोग आराम से रहते हैं। क्योंकि वे अपने देश के प्रति सच्चे हैं और वास्तविक रूप से स्वदेशी का पालन करते हैं। प्लेग और महामारी उन्हें छू तक नहीं जाती क्योंकि वे बड़े बड़े और हवादार मकानों में रहते हैं और यह भी शहर के अत्यन्त स्वास्थजनक स्थानों में बने हुए। वे हमारे देश के अनाज का विशेष भाग अपने देश को ले जाते हैं—उस समय भी जब कि स्वयं हमारे देशवासी भोजन की कमी के कारण भूखों मरते हैं और देश में भयंकर अकाल का प्रकोप होता है। अपने देश वासियों को पर्याप्त रूप से मुख्य भोजन पहुंचाने ही के लिए वे ऐसा करते हैं। हमारा कच्चा माल सीधा इंगिलिस्तान इसलिए चला जाता है कि वहां की बनी हुई वस्तुओं के व्यापार की उन्नति हो। वे ही चीजें फिर आकर बड़े फ़ायदे के साथ हमारे यहां बिकती हैं। अपने देश वासियों के लिए इस देश में बड़े बड़े फ़ायदे के कामों के साधन इकट्ठा करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। अपने भाइयों की भलाई के लिए वे सदा हर प्रकार का काम करने के लिए तैयार रहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि समस्त जाति की भलाई का वास्तविक ध्यान ही उनकी उन्नति और हर तरह की सफलता का मूल रहस्य है।

हमारे देशवासियों में देशभक्ति के उस भाव की दुख जनक कमी है जो संसार के महान और उन्नतिशील देशों के नागरिकों में पाया जाता है और यही कारण है कि हमारे कष्टों का अन्त ही नहीं होता।

हमारे सामने जो तबाही और मौत मुंह खोले खड़ी हैं उन से बचने का हमारे लिए सिवा सच्ची देशभक्ति के और कोई उपाय नहीं है। इस देशभक्ति की सच्ची परिभाषा यह है कि हम सदा अपने देशवासियों की भलाई के लिए कार्य्य करते रहें और धन कमाने तथा मान मर्यादा पाने की अपनी इच्छाओं का उस पवित्र और दैवी देवी-देशभक्ति, के सामने बलिदान करदें। अपने देश के लिए सच्ची और निःस्वार्थ भक्ति ही हमारा धर्म होना चाहिए। यही हममें से प्रत्येक आदमी के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। और अपने देश की सेवा में हमें न तो अपने धन की चिन्ता करनी चाहिए और न प्राण की।

भारतवर्ष की एकमात्र आवश्यकता ।

(सार्वजनिक कर्तव्य का ध्यान और सार्वजनिक नैतिकता का उच्च आदर्श)

चाहे हम सोते हों या जागते, एक प्रश्न जो बहुधा हमको सताया करता है वह यह है कि क्या कारण है कि हम में ज़ोरदार और उच्च बनाने वाले सत्य सिद्धान्तों और नैतिकता के महान से महान विचारों के उपस्थित होते हुए भी हम एक पराधीन जाति बने हुए हैं। कई शताब्दिओं से हम ऐसे लोगों के आधीन बने रहे हैं जो न तो हमसे शरीर ही में श्रेष्ट थे और न अध्यात्मिकता में। और मानसिक शक्ति में भी वे हमसे इतने कदापि नहीं बढ़े हुए थे कि हमको उनके आधीन रहना स्वाभाविक रीति से आवश्यक होता।

हमें यह बतलाने के लिए कि एक सामाजिक रचना की सामाजिक क्षमता के लिए यह आवश्यक है कि उस रचना के सदस्यों में सामाजिक उत्तरदायित्व का ध्यान हो, किसी हर्बर्ट स्पेन्सर की आवश्यकता नही है। सब की रक्षा और भलाई के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत सदस्यों को अपने उत्तरदायित्व का जितना ही अधिक और गहरा ध्यान होगा उतना ही अधिक और बलवान उस रचना की योग्यता होगी।

केवल इसी ध्यान की हम में कमी है और यही कमी हमारे एक राष्ट्र बनने के मार्ग में बाधक है। शरीर में तो हम पृथ्वी के किसी देश के लोगों से बराबरी कर सकते हैं। केवल उन उच्च जाति के हिन्दुओं को तो छोड़ दीजिए जो केवल इसी में अपना गौरव समझते हैं कि उनके शरीर दुर्बल हों, उनके अंग कोमल हों और उनकी आकृति स्त्रियों की सी हो अथवा जो अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की जांच अपने बदन की चर्बी से करते हों या यह समझते हो कि अपने जीवन के व्यवहारों में उन्हें जितना कम शारीरिक श्रम करना पड़ेगा उतना ही अधिक समाज में उनका मान होगा। बाक़ी अधिकतर हमारे देशवासियों का शरीर सुसंगठित होता है और वे हर प्रकार के कष्टों और परिश्रमों का सामना करने के योग्य होते हैं। यद्यपि उन्हें अपनी पाशविक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए बहुत थोड़ी सामग्री मिलती है। उनका भोजन मोटा होता है, पहनने को काफ़ी कपड़े नहीं मिलते, रहने के लिए छोटे छोटे घर होते हैं जिसमें शुद्ध वायु प्रवेश नहीं कर पाती और थोड़ी सी जगह में बहुत से आदमी भरे रहते हैं। परन्तु तोभी उनमें ऐसे सिपाही पैदा होते हैं जो संसार की अच्छी से अच्छी फ़ौज के मुक़ाबिले के समझे जाते हैं। चाहे राजपूत हो या जाट, चाहे सिख हो या गोरखा, चाहे पुर्बिया हो या मरहठा अथवा पञ्जाबी मुसलमान, ऊपर लिखे हुए वाक्य सब

के लिए एकसां लागू हैं। सबने बारी बारी से उन सैनिक विशेषज्ञों की बड़ी से बड़ी प्रशंसा प्राप्त की है जिनके साथ रह कर अंग्रेजी झण्डे के नीचे उन्हें सेवा करने का मौका मिला है। मन और मस्तिष्क की उन अनेक भूलों के विषय में चाहे कुछ कहा जाय, जिनके कारण अंग्रेज़ों के आगमन के पहले वे अपनी बहुत सी लड़ाइयों में परास्त हुए थे। किन्तु कोई भी उनकी बहादुरी और वीरता के विषय में शंका नहीं कर सकता। इतिहास उनके कारनामों से भरा पड़ा है। यदि भारतवर्ष की सन्तान को अवसर मिला है तो बुद्धिमत्ता के कामों में भी उन्होंने अपनी मातृभूमि को लजाने का कोई मौक़ा नहीं दिया है। हिन्दू सभ्यता और बौद्धयों की उन्नति, उनकी महान करतूतों के ज्वलन्त उदाहरण मौजूद हैं। मुसलमानी शासन के समय में भी, जब कि प्रसिद्ध अलबेरूनी के लेखानुसार हिन्दू समाज के चुनिन्दा लोग दूरदेशों और छिपे हुए स्थानों में कट्टर मुसलमानों से सुरक्षित रहने की इच्छा से चले गये थे, बड़े बड़े बुद्धिमान लोग देश में पैदा होते थे जिनके नाम अब तक उनकी जन्मभूमि की शोभा बढ़ाते हैं। अंग्रेज़ी राज्य में भी, जब कि भारतीय विद्वानों को अपनी प्रतिभा दिखलाने के बहुत कम अवसर मिलते हैं, देश ने बोस, रामचन्द्र, परान्जपे, रानाडे और दूसरे अन्य सज्जन उत्पन्न कर दिये हैं जिनके नाम समस्त भारतीयों के लिए सामान्य

सम्पत्ति है। और यदि हम धर्म की ओर देखें तब तो कोई हमारा मुक़ाबिला ही नहीं कर सकता। उपनिषदों के अविदित रचयिताओं, बुद्ध और शंकराचार्य्य की बराबरी के लोग युरुप के किस देश में मिल सकते हैं? यदि धार्मिक बातों को छोड़ कर हम दार्शनिक संसार में आते हैं तो क्या हमें कोई भी ऐसा एक देश मिलता है जिसमें इतने सत्यता प्रेमी, खरे और स्पष्ट विचारकों का समुदाय मिलता है जैसा कि दर्शन शास्त्रों के अमर रचयिता और उनके भाष्यकार और टीकाकार हो गये हैं। यदि हम वीरता और उच्च कर्म्मों के इतिहास की ओर दृष्टि डालें तो क्या राजपूतों का इतिहास एक कहानी सा नहीं प्रतीत होता? तब क्या कारण है कि हम अन्य जातियों के सामने इतने नीचे हैं। वह कौन सी बात है जो सदा हमें नीचे दबाये रहती है और पानी के ऊपर हमें अपना सर नहीं उठाने देती? हम में अपने को समयानुसार बनाने और झुक जाने की शक्ति की कमी नहीं है। संसार में आप हिन्दू धर्म के समान कोई दूसरा उदाहरण कहीं भी नहीं पायेंगे। यद्यपि १२ शताब्दियों तक मुसलमानी प्रचार कार्य्य हुआ और राजनैतिक सत्ता ने उसकी सहायता की तथा उसकी मदद के लिए वह नैतिक प्रधानता बनी रही जो एक नवीन धर्म और विजयी मत के जहाज़ का लंगर होती है, और यद्यपि सौ वर्षों तक ईसा मसीह के नाम पर भक्त पादरिओं ने खूब

ज़ोर शोर से अपने मत का प्रचार किया, किन्तु तोभी सारे देश मे हिन्दू धर्म ही का बोल बाला है और समय समय पर उसको जड़ से उखाड़ फेकने तथा दूर करने के जो प्रयत्न होते रहे है उन सब के सामने अटल खड़ा है। तब क्या कारण है कि अंग्रेज़ी राज्य की छत्रछाया मे एक शताब्दी तक सारी शिक्षा पाकर और अपनी देशभक्ति का ढोल पीट कर तथा अपनी निस्सहाय और पतित अवस्था का स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त करके अथवा राष्ट्र संकट का विलाप करने और देश के शासन में सुधार कराने के लिए कर णाजनक प्रार्थनायें करने पर भी हम अब तक अपनी राष्ट्रीय-स्वतन्त्रता की खोज में कोई वास्तविक वस्तु प्राप्त करने मे असफल रहे हैं? क्या कारण है कि हमारे चिल्लाने का कोई प्रभाव नही होता, हमारी प्रार्थनाओं को कोई नही सुनता और हमारे वाक्यों से कोई लाभ नही होता? यद्यपि हम सरकारी बातो का खण्डन करने में कोई मौका और कोई ज़रिया उठा नही रखते और बहुधा हमारा खण्डन उचित और बुद्धिमत्ता पूर्ण होता है और उसे हम कभी कभी लगातार जारी भी रखते हैं, परन्तु तो भी न तो शासन प्रणाली में और न संगठन मे हम अब तक कोई छोटे से छोटा सुधार करा सके हैं, यहा तक कि हम अपने साथ न्याय कराने मे भी असमर्थ रहे हैं। अब राजनैतिक संसार को अलग छोड़ दीजिये और सामाजिक सुधार की ओर

दृष्टि कीजिए. यह तो हमारे हाथ में है। इसमें तो सरकार बाधा नहीं डालती। परन्तु क्या कारण है कि सामाजिक सुधार में भी हमें वह सफलता नहीं प्राप्त हुई है जो राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और महादेव गोविन्द रानाडे के भीषण प्रयत्न से होनी चाहिए थी? इस प्रश्न का भी उत्तर वही है जो हम ऊपर दे चुके हैं। व्यक्तिगत रूप से हममें सामाजिक उत्तरदायित्व के ध्यान की कमी है। सामाजिक ज़िम्मेदारी हमसे यह चाहती है कि रचना का प्रत्येक व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र के लाभों को अपने निजी लाभों के ऊपर रखे। हममें स्वार्थ, तृष्णा और लाभालाभ के विचार का साम्राज्य है। हममें से बहुत से लोग ऐसे हैं जो कभी समाज, जाति और राष्ट्र का ध्यान भी नहीं करते। किन्तु जो लोग समाज का ध्यान रख सकते हैं और उसकी चिन्ता का दम भरते हैं वे भी उस समय समाज का एक कौड़ी भर भी विचार नहीं करते जब उनके निजी स्वार्थ समाज के लाभों से टक्कर खाते हैं। हम में से बहुत से लोग ऐसे हैं जो सामाजिक उत्तरदायित्व से बिलकुल शून्य हैं। इनमें कुछ उच्च शिक्षा पाये हुए लोग भी शामिल हैं जो बहुधा अपनी दिमागी शिक्षा का स्वच्छन्द प्रदर्शन किया करते हैं तथा जो अपने से कम शिक्षित भाइयों की ज़रा ज़रा और व्यर्थ निराधार की भूलें निकालने में अपने को बड़े [illegible]

कर देने में ज़रा भी संकोच नहीं करते और जो हर्बर्ट स्पेन्सर के दर्शन शास्त्र, हक्सले के विज्ञान शास्त्र अथवा शेली और टेनिसन की सुन्दर काव्य प्रतिभा के सम्बन्ध में अपने ज्ञान का आडम्बर दिखलाने में तनिक भी कोताही नहीं करते।

हम कुछ ऐसे लोगों का जानते हैं जिन्होंने कड़ी से कड़ी भाषा में बाल्य विवाह का खण्डन किया था परन्तु उस समय भी ये लोग इस बात को जानते थे कि उन्होंने स्वयं अपनी सात वर्ष की बालिका के विवाह की तिथि उसी कोमल अवस्था के एक लड़के के साथ निश्चित कर दी थी। हमें ऐसे आदमियों का भी हाल मालूम है जो सदा अपनी देशभक्ति की गुहार मचाये रहा करते थे परन्तु जब कभी उनसे किसी राष्ट्रीय संस्था के लिए कुछ सहायता देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कोरा जवाब दे दिया। हम बड़े बड़े देशभक्तों को जानते हैं, जो धन कुबेर हैं, जिनके ऊंचे ऊंचे महल हैं, जो एक निश्चित आय का आनन्द उठा रहे हैं, किन्तु अपने पड़ोस की दरिद्रता और दुख दूर करने के लिए कभी अपनी उंगली तक नहीं हिलाते। हमने देखा है कि बड़े बड़े देशभक्त भारतीय बिलकुल लापरवाही से गुजरते हुए चले आते हैं जब कि उनके किसी देशभाई को एक युरोपियन बड़ी निर्दयता से पीटता रहता है। यह समझा जाता है कि किसी भारतीय को क्या

पड़ी है कि वह कोई आन्दोलन करे जब कि उस आन्दोलन से उसका कोई निजी फ़ायदा न हो और न उससे उसे कुछ धन ही मिलता हो या कोई वस्तु विशेष ही का लाभ होना हो। आप किसी भले आदमी के पास जाइए और उससे कहिए कि आप अमुक सभा के सदस्य बन जाइए अथवा अमुक कार्य्य कीजिए तो पहला प्रश्न जो वह आप से करेगा या अगर उसमें खुल्लम खुल्ला ऐसा करने की हिम्मत न हुई तो अपने मनहीं में यह प्रश्न कर लेगा, कि उससे उसे क्या फ़ायदा होगा? हम जानते हैं कि लोग चन्दे देते हैं, सभाओं में जाते हैं, संस्थाओं और समाजों में सम्मिलित होते हैं और बहुत से ऐसे कार्य्य करते हैं जिनसे सार्वजनिक सेवा अथवा राष्ट्रीय सहायता का भाव टपकता है। परन्तु हम पूछते हैं कि उनमें से कितने लोग ऐसे हैं जो यह सब कार्य्य अपना सार्वजनिक कर्तव्य मानकर अथवा जातीय कार्य्य के लिए अपना व्यक्तिगत उत्तरदायित्व समझ कर करते हैं? हां! उन कामों को छोड़ दीजिए जो धार्मिक उत्साह से किये जाते हैं। यह बड़ी दुखप्रद बात है कि हमें स्वयं अपने देशवासियों की निन्दा करनी पड़ती है अथवा उन महानुभावों के सामने कृतघ्न होना पड़ता है जो सार्वजनिक आन्दोलनों को चलाते रहते हैं किन्तु सच बात यह है कि यदि हम उनकी देशभक्ति में विश्वास करने का बहाना करते रहे तो हम अपने कर्तव्य से

च्युत हो जायंगे। यह हमारा पक्का विश्वास है कि यदि देश में उस देशभक्ति का दशांश भी होता जिसका प्रदर्शन और आडम्बर किया जाता है तो देश की दशा और ही कुछ होती और कोई भी सरकार ऐसी देशभक्ति के अस्तित्व को और उसकी मांगो को न भुला सकती। किन्तु अवस्था बिलकुल दूसरी है। यह बात नही है कि जिन सामाजिक आदर्शों को हमारा धर्म सिखलाता है वे नीच और पतित हैं, और न यह बात है कि इस घोर स्वार्थ और निजो लाभ के घृणित विचारों का हमारे महापुरुषों के उपदेशों ने समर्थन किया है और साथ ही यह भी नहीं है कि राष्ट्रीय और सार्वजनिक कर्तव्य का हमारे शास्त्रों की शिक्षा में बिलकुल ही अभाव है। नहीं, ऐसी बात नही है। इतने दिनो के हमारे राजनैतिक पतन ने हमारे रक्त मे से इस उच्च भाव के कीड़ों का एक प्रकार से नाश ही कर दिया है। हमारे हाल के बुजुर्गों में यह भाव नही था और इसीलिए हमने उनसे उसे बपौतो मे नही पाया। रही बाहर से पाने की बात, सो हमें यह कहते बड़ा दुख होता है कि पश्चिमी सभ्यता के लाभ भी निर्दोष नहीं हुए है। ऐसे मनुष्य थोड़े हुए है जिन्होंने उसके उच्च भाव ग्रहण किये है। परन्तु ऐसे लोग बहुत हुए है जिन्होने उसके सांसारिक भावों और अनात्मवाद के सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया है और उन्हें जीवन के व्यवहारों में प्रचलित कर दिया है।

हम यह जानते हैं कि हमें इन बातों की भी आवश्यकता है और आवश्यकता भी बुरी तरह से है परन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि यदि हम केवल इन्हीं में फंस गये और दूसरे आवश्यक तथा इनका प्रभाव दूर करने वाले भावों को छोड़ दिया तो हमारा काम तमाम ही समझिए। देश धनवान हो जाये, उसका व्यापार बढ़ जाये, वह दूसरे देशों के लिए सामान भी बनाने लगे, किन्तु जब तक इस देश के लोगों में इन सब बातों के साथ ही साथ सार्वजनिक कर्तव्य का ध्यान न होगा तब तक इन सब बातों से भी कोई लाभ न होगा किन्तु उलटे येही सब हमारे भावी पतन की जड़ बन जायंगी, यदि और भी पतन होना सम्भव हो सकता है। हां! हमें इन सब बातों की आवश्यकता है किन्तु सब से पहले हमें जिस बात की आवश्यकता है वह यह है कि हम समाज के लाभों के सम्मुख अपने व्यक्तिगत लाभों को दबाने की आदत डालें और सदा इसी बात का ध्यान रक्खें। सारांश यह है कि हमें इस बात की परमावश्यकता है कि प्रत्येक भारतवासी पर्याप्त रूप से देशभक्त और कर्तव्य परायण हो। उसका विश्वास हो और वह अपने विश्वास पर अमल करता हो कि देश का हित सर्वोपरि है। सदा निजी विचारों पर देशहित के विचारों ही की प्रधानता होनी चाहिए। हम चाहते हैं कि यह ... नियमित रूप से उच्च से उच्च धर्म की तरह पढ़ाई जाय। इसी

से भारत का उद्धार होगा। इसका प्रचार करने के लिए हमें ऐसे विश्वासपात्र और सच्चे उपदेशकों की आवश्यकता है जो अपने प्रचार कार्य्य के जीते जागते उदाहरण हों और जो अपने विश्वास की शक्ति को स्वयं अपने शरीरों से दिखला सकें। यदि प्रत्येक प्रान्त में कुछ ऐसे उपदेशक उत्पन्न हो जायें तो हमें विश्वास हो जाये कि इस देश में देशभक्ति की जड़ जम जायेगी और राष्ट्रीयता का काम बड़े ज़ोर शोर से आगे बढ़ जायेगा। बिना इसके हम वर्षों चिल्लाया करें किन्तु हम एक इंच भी आगे न बढ़ेंगे।

अमरीकन सहानुभूति

बम्बई क्रानिकल पत्र के प्रतिनिधि के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए लाला लाजपतराय ने कहा था:—

"मैं आप को विश्वास दिलाता हूं कि संयुक्त राज्य अमेरिका के राजनैतिक और व्यापारिक समुदायों में हिन्दुस्तान के पक्ष में बड़े ज़ोर के भाव मौजूद हैं।"

आपने यह भी कहा था कि "वे समस्त अमरीका निवासी जिन्हें संसार की राजनीति से प्रेम है, आयर्लैंड, मिश्र और भारतवर्ष के प्रश्न को एक ही समुदाय में सम्मिलित करते हैं।"

उस प्रतिनिधि ने पूछा कि 'वे भारतवर्ष के स्वभाग्य निर्णय के आन्दोलन को किस दृष्टि से देखते हैं?'

लाला जी ने उत्तर दिया कि "वे हमारे काम के विषय में बड़े उत्सुक रहते हैं। वे भारतवर्ष के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। यदि भारतवर्ष की कोई दायित्वपूर्ण संस्था उन्हें यह बतलाये कि भारतवर्ष की असली अवस्था क्या है तो वे उसे वास्तविक सहायता देने के लिए भी तैयार हैं। हमें चाहिए कि हम अमरीका में एक स्थायी संस्था बनाये रक्खें जिसका प्रबन्ध हमारे उच्च कोटि के आदमियों के हाथ में हो, अर्थात उन भारतीयों के हाथ में जिन्हें राजनैतिक अनुभव हो और हमारी कठिनाइयें। और

हमारे आन्दोलनों का पूरा पूरा ज्ञान हो। अमरीका वाले हमसे बहुत सहानुभूति रखते है। इस बात के प्रमाण के लिए हमें अमरीकन सिनेट के वे व्याख्यान पढ़ना चाहिए जो अभी हाल ही मे हुए थे। भारतवर्ष का प्रश्न दो बार बड़े ज़ोर शोर से पेश किया गया था। ख़ासकर सिनेटर फ्रान्स ने तो हमारे पक्ष में उस विवाद में एक विशेष भाग लिया था।"

प्रश्न—आपकी राय में इंगलैण्ड में काम करना अधिक लाभकारी है अथवा अमरीका और युरोप के अन्य देशों में ?

उत्तर—"भारतवर्ष के सम्बन्ध की जानकारी का प्रचार हमें सब जगह करना चाहिए। सचमुच हमें इंगलैण्ड में जरूर काम करना चाहिए परन्तु मेरी यह भी राय है कि इस काम की पूर्ति के लिए हमे अन्य देशो में भी और विशेषकर अमरीका में, अपना प्रचार कार्य्य बड़े जोर शोर के साथ और वृहत् रूप से करना चाहिए। अमरीका में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम अपनी अवस्था का वास्तविक ज्ञान फैलायें। यह बात आप को स्मरण रखना चाहिए कि अमेरिका में अंग्रेज़ी राज्य के गुण गाने के लिए अंग्रेज़ों का एक स्थाई प्रचारक दल है। कुछ अंग्रेज़ और कुछ अमरीकन जिन्हें भारतीयो की एक जमात सहायता करती है, उदाहरणार्थ जिनका एक एजेन्ट रुस्तम जी नामक एक पारसी है,

अमरीकनों से यह कहा करते हैं कि भारतवर्ष का आन्दोलन कुछ थोड़े से पढ़े लिखे लोगों ही में संकुचित है, और केवल वे ही लोग असन्तुष्ट हैं। ज़ाहिरा तौर से अथवा अन्य किसी प्रकार से अंग्रेज़ी एजेन्सियां इन लोगों को सहायता करती हैं। जो पादरी लौटकर अमरीका आते हैं वे हमारी राजनैतिक मांगों के विरुद्ध विशेष भाग लेते हैं। वे सदा अपने लेखों और व्याख्यानों मे हमारे ख़िलाफ जाति-पांत के झगड़ों और भारतीय स्त्रियों की दशा को उपस्थित करते हैं और हमेशा हिन्दू-मुसलमानों के भेदभावों की पुरानी मिसाल पेश करते हैं।"

प्रश्न—क्या आप को अपने काम में उन भारतीयों से पूरी मदद मिली, जो इस समय अमरीका में मोजूद है?

उत्तर—'हां, 'मुझे बहुत हद तक उनसे सहायता मिली। परन्तु किसी को उन्हीं लोगों पर निर्भर न रहना चाहिए जो कि वहां इस देश से भेजे हुए केवल विद्यार्थी मात्र हैं। यह बात स्वाभाविक है कि वे अपने निजी काम में लगे रहते हैं और उन्हें वास्तविक बातों के समझने का समय ही नहीं मिलता। हमें तो अनुभव प्राप्त लोगों की आवश्यकता है। ऐसे लोगों की ज़रूरत है जो इस देश के सार्वजनिक जीवन और आन्दोलनों को अच्छी तरह समझते हों। वे अमरीका में जांय और

वहां काम करें। इस काम की आवश्यकता बड़ी गम्भीर और तत्कालीन है। अमरीका भारतवर्ष के विषय में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता है। हमारी मांगों को विस्तृत रूप से जानना चाहता है। अमरीकन लोग हमारे प्रश्न से बहुत सहानुभूति रखते हैं। यही कारण है कि हमें अपने प्रयत्नों को कई गुना बढ़ा देना चाहिए।"

स्वदेशी आन्दोलन

यह बात सबको मालूम है कि स्वदेशी आन्दोलन के दो अंग हैं, एक तो राजनैतिक और दूसरा आर्थिक। शुद्ध स्वदेशी, जिस नाम से कुछ एंग्लोइण्डियन उसे कहना पसन्द करते हैं, एक आर्थिक आन्दोलन है। और इसके लिए वे अपनी पूरी सहानुभूति दिखलाने का दम भरते हैं। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एक राजनैतिक हथियार समझा जाता है। उस के प्रयोग और नैतिकता में बड़ा मतभेद है। एंग्लोइण्डियन लोगों को तो उसमें सिवा बुराई के और कुछ दिखलाई ही नहीं देता। उनकी राय में नैतिक दृष्टि से वह ग़लत है, राजनैतिक दृष्टि से हानिकारक है और आर्थिक दृष्टि से असत्य और अव्यावहारिक है। किन्तु बहुत से युरोपियन और अमरीकन ऐसे हैं जिन्हें उसमें कोई अहित नहीं दिखाई देता और वे उसे केवल पूर्ण रूप से उचित (जायज़) एक हथियार ही नहीं समझते किन्तु किसी साम्राज्यवादी जाति पर जिसका मुख्य काम व्यापार हो, दबाव डालने के लिए बड़ा शक्तिशाली और प्रभावशाली अस्त्र समझते हैं।

स्वयं भारतीयों में भिन्न भिन्न श्रेणी के लोग उसे भिन्न भिन्न दृष्टि से देखते हैं। पहले वह श्रेणी है जो अपने एंग्लो इण्डियन संरक्षकों से भिन्न कुछ देख ही नहीं सकती। इस

श्रेणी के लोगों की राय की कोई प्रतिष्ठा (वक़अत) नहीं और इसलिए उस पर विचार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं। दूसरे वे लोग हैं जो अपनी प्रकृति और स्वभाव से शान्ति के पक्षपाती हैं, वह शान्ति चाहे जैसे हो। वे उन उपायों को नहीं पसन्द करते जिस से भिन्न भिन्न लोगों और समाजों के सम्बन्ध मे तनिक भी गड़बड़ हो, चाहे वे समाज और लोग भारतीय हो या ऐसे विदेशी, जो किसी न किसी प्रकार से भारतवर्ष के शुभचिन्तक हैं। ये भले आदमी नैतिक प्रोत्साहन और प्रार्थना मे बड़ा विश्वास रखते हैं। वे प्रार्थनायें चाहे विश्व के स्वामी के प्रति हों अथवा हमारे सांसारिक प्रभुओ के प्रति। उनका विश्वास है इन दोनों प्रकार की प्रार्थनाओं से एक प्रकार की ऐसी शक्ति पैदा हो जायगी जिस से भारतवर्ष में एक ऐसी शान्तिमय, रक्तहीन और नैतिक क्रान्ति उत्पन्न हो जायगी जिससे सब काम सिद्ध हो जायेंगे और सब प्रकार की राजनैतिक अयोग्यताएं और असुविधाएं दूर हो जायेंगी जिनसे भारतवासी इस समय दुखी है और जिनसे इस देश के लोगों पर बड़ा अत्याचार और अन्याय और कष्ट होता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं प्रार्थना की शक्ति को धार्मिक शासन का एक अस्त्र समझने में विश्वास करता हूं। परन्तु मैं चाहे जितना अपना दिमाग़ लड़ाऊं और चाहे जितना विश्वासी

बन जाऊं किन्तु मैं यह किसी तरह नहीं मान सकता कि राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मामलों में सर्वशक्तिमान परमात्मा की प्रार्थना और साथ ही साथ शासन करने वाली जाति की प्रार्थना करने से कोई प्रत्यक्ष परिणाम निकल सकता है। परमात्मा की प्रार्थना करने से आपकी राजनैतिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक स्वत्व प्राप्त करने की इच्छा प्रबल हो सकती है। शासन करने वाली जाति की प्रार्थना करने से आप को यह प्रमाणित हो जायगा कि राजनैतिक मामलों में मनुष्य के उच्च भावों की दुहाई देना बिलकुल व्यर्थ है, ख़ास करके ऐसे अवसरों पर जहां कि एक जाति के लाभ दूसरी जाति के हितों से टकराते हों। और आप को मजबूरन इस परिणाम पर पहुंचना पड़ेगा कि मनुष्य का स्वभाव ही इस प्रकार का बना हुआ है कि वह पक्का स्वार्थी हो और उसका परिवर्तन होना या किसी ओर झुकना उस समय तक असम्भव है जब तक परिस्थितिओं की शक्ति उसे ऐसा करने के लिए मज़बूर न करदे। इसके अतिरिक्त मैं प्रार्थनाओं में कोई विश्वास नही रखता। भारतीयों की तीसरी श्रेणी में वे सज्जन शामिल हैं जो बृटिश जाति की सच्चाई में विश्वास करते हैं। वे ग्रेट बृटेन और आयलैंड के निर्वाचकों को ही बृटिश जाति का प्रतिनिधि समझते हैं और इन्हे वे अंग्रेज़ी माल का बहिष्कार करके नाराज़ करना नही चाहते। यदि अंग्रेज़ी जाति किसी

दो श्रेणियों में विभाजित हो सकती है तो एक कारीगर और दूसरे मज़दूर हैं। दोनों ही अपने माल की बिक्री और खपत के लिए हिन्दुस्तानी बाज़ारों को खुला रखना चाहते हैं। यदि इस प्रकार कोई आन्दोलन होगा जिससे ये बाज़ार बन्द हो जायें अथवा संकुचित हो जायें तो उस आन्दोलन से वे अवश्य अप्रसन्न होंगे। कहा जाता है कि एंग्लोइण्डियन नौकर शाही के अन्याय की शिकायत हम केवल उन्हीं से कर सकते हैं। वे ही हमारे एक मात्र मित्र हे। हमारे उपरोक्त शुभचिन्तक कहते है कि यदि आपने उन्हें अप्रसन्न किया तो आप का सब काम बिगड़ जायगा। आप उन लोगों की भी सहानुभूत खो देंगे जो आप की सहायता कर सकते हैं और जो आप की शिकायतों को सुनने के लिए तैयार हैं। किन्तु ये भले मित्र यह भूल जाते है कि चाहे बहिष्कार कीजिए और चाहे न कीजिए परन्तु जिस आन्दोलन से भारतवर्ष की कारीगरी बढ़ेगी उससे अंग्रेज़ी निर्वाचक गण अवश्य अप्रसन्न होंगे। वे लोग ख़ब पढ़े लिखे जीव होते हैं। वे बड़े निपुण व्यापारी होते हैं और तुरन्त ही उन मामलों की तह तक पहुंच जाते हैं जिनसे उनके पाकेट का सम्बन्ध होता है। जिन लोगों का हित वास्तव में उनके लाभ के विरुद्ध होता है उनकी सारी होशियारी और चालाकी को वे बड़ी शीघ्रता से समझ लेते हैं। बहिष्कार को छोड़ कर केवल स्वदेशी ही को मान लेने की पुकार

से वे धोखे में आने वाले नहीं हैं। क्योंकि सच पूछा जाय और ठीक ठीक काम और संगठन किया जाय तो दोनों एक ही हैं।

स्वदेशी का उद्देश्य अपने देश में उन चीज़ों का बनाना है जो इस समय बाहर से आती हैं। वहिष्कार का अर्थ उन चीज़ों का ख़र्च करना छोड़ देना है जो देश में न बनती हों। इसलिए वहिष्कार को केवल इस कारण से छोड़ देने से कोई लाभ नहीं कि ऐसा करने से अंग्रेज़ी निर्वाचकों का हमारे प्रति मित्र भाव पक्का बना रहेगा। किन्तु हम एक क़दम और आगे बढ़ते हैं और यह कहने का साहस करते है कि अब तक अंग्रेज़ी निर्वाचकों को इस स्वीकृत कीहुई मित्रता से कोई लाभ नहीं हुआ है। पिछला अनुभव हमें यह बतलाता है कि कई बार उन्होंने भारतवर्ष के लोगों और उन उच्च हृदय वाले एंग्लो इण्डियन शासकों के बीच में अनेक रुकावटें डाली हैं जो कभी कभी भारतीयों के लिए आर्थिक न्याय प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं। ये शुभचिन्तक गण जानते थे कि भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति बड़ी गम्भीर हो गई थी। इसी लिए अंग्रेज़ी कारीगरों की मांगों के मुक़ाबिले में वे कभी कभी भारतीयों के प्रति न्याय कराने के लिए बड़ी बहादुरी से डट गये हैं। परन्तु लगभग सदा ही उन्हें चुप हो जाना पड़ा, क्यों-कि उन कारीगरों के सामने इनकी चली नहीं। अब बतलाइए

कि हमारी अवस्था दुविधाजनक है कि नहीं? एक तरफ़ कुआं है और दूसरी तरफ़ खाई। हमारे अन्यायों के प्रति वृटिश निर्वाचक उदासीन हैं। हमारे स्वत्वों के प्रति, यद्यपि भारतवर्ष के कुछ भले अंग्रेज़ हमारा समर्थन भी करें, वे प्रतिकूल रहते हैं। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वृटिश निर्वाचक उन अन्यायों और अत्याचारों की कहानियां बड़ी सहानुभूति से सुनता है जिन्हें आप इंगलैण्ड में जाकर सुनायें। परन्तु दुर्भाग्य से वह अपने निजी काम में इतना लगा रहता है कि उसे आप की कहानियां सुनने और उन पर गम्भीरता से विचार करने का समय ही नहीं मिलता। साम्राज्य का बोझा इतना अधिक भारी है कि वह थोड़े से लोगों के कन्धे से हटाकर—यद्यपि उन थोड़े से लोगों को उनके काम के लिए उदारता से तनख़्वाह दी जाती है,—अंग्रेज़ी जनसमुदाय के कन्धों पर नहीं रक्खा जा सकता। वहां धन दौलत और भोग विलास की दौड़ धूप इतनी अधिक और इतनी घनिष्ट है कि न तो उनके पास इतना अवकाश ही है और न इतनी आकांक्षा ही कि वहां के लोग साम्राज्यवाद की नैतिकता का अध्ययन करें।

ऐसी अवस्था में वृटिश निर्वाचक की सहानुभूति कम से कम इस सम्य के लिए अगण्य मात्रा में है। इस प्रश्न का साफ़ साफ़ आशय यह निकलता है कि यदि इन अंग्रेज़ी

माल के लिए अपने बाज़ार बिलकुल खोल दें तो क्या बदले में वे हमें पूर्ण राजनैतिक स्वत्व देने के लिए तैयार हैं? यदि इस प्रश्न का उत्तर हां में दिया जाय तो उसे मन की एक कल्पना मात्र ही समझना चाहिए। किन्तु यदि मान भी लिया जाय कि इस युक्ति में कुछ बल है तो बहिष्कार से स्वदेशी की पूर्ति करके इंगलैण्ड के अंग्रेज़ों पर यह बात प्रमाणित करना कि हमारे देश में उनके प्रतिनिधियों ने बड़े अत्याचार किये हैं, बिलकुल निरर्थक है। यह बात मान लेने पर भी कि विलायत के अंग्रेज़ सब काम बना सकते हैं, आप भारतवर्ष की अवस्था की ओर उनका ध्यान किस प्रकार आकर्षित कर सकते हैं सिवा इसके कि आप उनको आर्थिक नुक़सान पहुंचाने का डर दिखलायें। न्याय और उचित व्यवहार की आचार नीति पर अवलम्बित दलीलों की अपेक्षा आप इस दूकानदारों की जाति पर व्यापार बन्द कर देने के तर्क से अधिक प्रभाव डाल सकते हैं। अंग्रेज़ लोग आध्यात्मिक लोग नहीं हैं। वे या तो एक लड़ने वाली जाति हैं या एक व्यापारी कौम। उनसे उच्च भावं, न्याय और आचार नीति के नाम पर प्रार्थना करना अन्धों के आगे रोने के बराबर है। वे आत्मविश्वासी और अभिमानी लोग हैं, वे अपने शत्रु के भी आत्माभिमान और आत्मविश्वास की प्रशंसा करते हैं। अब इस प्रश्न को भारतीय स्वयं निर्णय कर सकते

है कि क्या वे इनसे राजनैतिक न्याय और सद्व्यवहार के नाम पर प्रार्थना करेंगे या भारतवर्ष की वर्तमान असह्य दशा की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने के लिए उनके व्यापार को धक्का पहुंचायेंगे और आत्मविश्वास के साथ बदला लेने वाले भाव को ग्रहण करेंगे।

किन्तु भारतीयों की एक और श्रेणी भी है जिनका मार्ग उपरोक्त वर्णित श्रेणियों के मार्ग से अधिक ठोस है। इस श्रेणी के लोग बहिष्कार का विरोध आर्थिक कारणों से करते हैं। किन्तु हम समझते हैं कि इस मामले में हमारी जड़ और भी अधिक मजबूत है। ये लोग न तो सुगमता ही का बहाना करते हैं और न उनकी दलील भारतवर्ष के अधिकारियों अथवा विलायत के निर्वाचकों के डर से पैदा होती है। उन की सूचना का मूल कारण वैज्ञानिक है। और इसलिए समस्त देशभक्तों को उस पर बड़े ध्यान और विचार से मनन करना चाहिए। चाहे आप मुक्त-द्वार वाणिज्य नीति के मानने वाले हों, चाहे संरक्षण नीति के, किन्तु आप इन लोगों की बातों को सहज ही में नहीं टाल सकते और न उनकी युक्तियों को तिरस्कार की दृष्टि ही से देख सकते हैं। वे झक्की या ख़ब्ती कहे जा सकते हैं (बदले में वे स्वदेशी के पक्ष वालों को इसी नाम से पुकारते हैं) किन्तु वे कायर या देशद्रोही नहीं हैं। अपने विषय में तो मैं कह सकता हूं कि मैं सरासर स्वदेशी के पक्ष

का हूं और पिछले पच्चीस वर्षों से रहा हूं। सच बात तो यह है कि जिस रोज़ से मैंने देशभक्ति शब्द का ठीक ठीक अर्थ समझा उसी रोज़ से मैं स्वदेशी का सहायक बन गया। मेरे लिए तो स्वदेशी और देशभक्ति पर्य्यायवाची शब्द हैं। इससे मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि मुक्त-द्वार वाणिज्य के पक्षपाती देशभक्त नहीं हैं। मैं जानबूझ कर "स्वदेशी का पक्ष न ग्रहण करने वाले" वाक्य का प्रयोग करता हूं। क्योंकि मैं यह कहने के लिए तैयार नहीं हूं कि वे भारतीय जो मुक्त-द्वार वाणिज्य के पक्षपाती हों अवश्य ही स्वदेशी के पक्षपाती न होंगे। अस्तु, जो कुछ हो मैं व्यक्तिगत रूप से स्वदेशी आन्दोलन के अधिक से अधिक महत्व को समझता हूं। हमारे देश के कष्टों के दूर करने की यदि कोई एक मात्र औषधि हो सकती है तो वह स्वदेशी का ठीक ठीक और निरन्तर प्रयोग ही है। मैं तो इसे अपने देश की मोक्ष का रूप समझता हूं। स्वदेशी से हम में आत्माभिमान, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और आत्मत्याग उत्पन्न हो जायगा और हममें पुरुषत्व आ जायगा, जोकि अन्तिम गुण है परन्तु किसी गुण से कम नहीं है। स्वदेशी हमें बतलायेगा कि हम अपनी पूंजी का, अपने उपायों का, अपने परिश्रम का, अपनी शक्तियों का और अपनी योग्यता का, भारतीयों के लाभार्थ बिना जातिपात, धर्म और रंग का विचार किये हुए बड़े से बड़ा सदुपयोग और संगठन

किस प्रकार कर सकते हैं। हमारे धार्मिक और मतमतांतरों के भेदभाव होते हुए भी स्वदेशी हम सब को आपस में मिला देगा। उसके द्वारा हमको वह वेदी प्राप्त हो जायगी जिसके सामने हम लोग खड़े होकर अपने सच्चे हृदय से और अपने पूर्ण आत्मविश्वास से अपनी प्यारी मातृभूमि की भलाई के लिए प्रार्थना कर सकेंगे। हम सब का यही दृढ़ संकल्प होगा कि हम सब एक साथ हैं और साथ ही मिलकर काम करेंगे। मेरी सम्मति में तो स्वदेशी ही संयुक्त भारत का समान धर्म होना चाहिए। परन्तु यह सब होते हुए भी बतौर एक व्यावहारिक स्वदेशी के मैं चाहता हूं कि देश की जरूरतों और आर्थिक आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझा जाय और औद्योगिक उन्नति का एक व्यावहारिक कार्य्यक्रम वैज्ञानिक विचारों पर बनाया जाय। जिस तरीके पर मैं चाहता हू कि यह कार्य्यक्रम बनाया जाय, उसकी ओर संकेत करने के लिये लण्डन की राजकीय अर्थ समिति के मुखपत्र से कुछ वाक्य उद्धृत करूंगा। इससे अच्छा मार्ग मेरी समझ में दूसरा नहीं है। जो वाक्य मैं उद्धृत करता हूं वे सन १९०६ के मार्च महीने में एक बहुत प्रसिद्ध लेख से लिये गये हैं। इस लेख का विषय था "शिशु उद्योगों की रक्षा"। संरक्षण नीति के आर्थिक परिणामों पर वादविवाद करते हुए लेखक लिखता है:—

"हम देखते हैं कि जब माल की आमदनी रोक दी जाती

है तब हुन्डियावन पर यह प्रभाव पड़ता है कि देश में वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। और यह बढ़ती उस समय तक जारी रहती है जब तक माल की आमदनी फिर न सम्भव हो जाय। किन्तु यह बात उस समय रुक सकती है जब कि चुंगी की दर इतनी बढ़ा दी जाय कि देश में माल की आमदनी और रवानगी को बिलकुल रोक कर एक प्रकार से अलग सा कर लिया जाय और वह पूर्ण रूप से स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इस रीति की यह बात भी हमारी समझ में आती है कि संरक्षण नीति से जो कुछ सहायता मिलती है वह बहुधा एक प्रकार से क्षणिक रूप की होती है। क्योंकि कुछ मास तक देश के उत्पादकों ही के हाथ में सारा मैदान रहता है। किन्तु धीरे धीरे उनका उत्पादन खर्च बढ़ता जाता है। फिर वे देखते हैं कि उनके मुकाबिले में विदेशी चढ़ा ऊपरी दुबारा बढ़ती जाती है। और अन्त में उन्हें अधिक संरक्षण की घातक मांग की शरण लेनी पड़ती है।

किन्तु संरक्षण नीति का जो यह समान मार्ग पुराने और नये देशों में है, सिद्धान्त रूप से केवल यही एक सम्भव मार्ग नहीं है। जहां तक मैं समझता हूं इसकी शरण मुख्यतः इस लिए ली जाती है कि तुरन्त ही बहुत सा काम किया जा सके। तुम्हारा नया देश अपने यहां के कारीगरों की ओर अधिक उदारता दिखाने की इच्छा रखता है और तुरन्त ही सब प्रकार

की चीज़ों को बनाना आरम्भ कर देना चाहता है। किन्तु ऐसा करने से उसकी शक्ति बट जाती है और विस्तीर्ण मैदान पर उसका ख़र्च फैल जाता है। यदि वही व्यय केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उससे प्रभावजनक परिणाम निकल सकते हैं।

क्योंकि मान लीजिए कि एक नवीन देश एक समय में केवल एक या दो काम करने के लिए राज़ी होता है, तब तो शायद उसकी कठिनाइयां बहुत कम होंगी। उदाहरणार्थ, यदि वह एक बिनने का काम और एक धातु का उद्योग आरम्भ करता है, तब वह अपने शिशु उद्योगों को कई वर्षों तक वास्तविक और महत्वपूर्ण सहायता दे सकता है। सचमुच सुवर्ण मूल्य में तोभी कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य होगा, किन्तु बहुत ही थोड़ा। परन्तु जब समस्त बने हुए माल की एक दम से रुकावट कर दी जायगी तब पहले प्रभाव की अपेक्षा एक बड़ा भारी प्रभाव उत्पन्न हो जायगा। जितना धन एकत्रित हो सके उसे सैकड़ों कामों में बांटने की अपेक्षा यदि उसे एक ही उद्देश्य के लिए केन्द्रीभूत कर दिया जायगा, तो निस्सन्देह वास्तविक उन्नति होगी। सारांश यह है कि आधुनिक अवस्थाओं में किसी उद्योग को पांच वर्ष से अधिक शिशु अवस्था में न रहना चाहिए। उन वर्षों में शायद उसे उस सहायता से अधिक की आवश्यकता होती है जो सुगमता से साधारण संरक्षण नीति में दी जा सकती है। बाद में

तो उन्हें जितनी कम सहायता की आवश्यकता हो उतना ही अच्छा।

इस प्रकार केन्द्रीभूत करने की नीति से और भी आवश्यक लाभ हो सकते हैं—राजनैतिक और आर्थिक, दोनों ही। पहली बात तो यह है कि सड़ियल काम करने के अवकाश कम हो जायंगे। यदि यह नीति एक बार स्थापित हो जाय तो संरक्षण नीति का एक लाभकारी भाग अवश्यमेव जारी हो जायगा। किन्तु जैसी दशा है उसका परिणाम यह है कि बहुत से देशों में, प्रत्येक मनुष्य संरक्षण नीति का पक्ष इस लिए लेता है कि तुरन्त उसे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हो। किन्तु जिस नीति का प्रस्ताव किया गया है उस से प्रत्येक मनुष्य यह जान जायगा कि एक समय में केवल एक या दो उद्योगों की रक्षा की जायगी और वह भी कुछ वर्षों के लिए। और दूसरी बात यह है कि यह विश्वास दूर हो जायगा कि वर्तमान संरक्षण नीति आवश्यकता से अधिक समय तक जारी रहेगी। क्योंकि एक समय में केवल एक या दो ही उद्योगों को सहायता मिलेगी, इसलिए अन्य उद्योग वाले मिलकर यह प्रयत्न करेंगे कि शीघ्र से शीघ्र वह समय व्यतीत हो ताकि जल्दी ही उनकी बारी भी आये।"

मेरी सम्मति है कि स्वदेशी आन्दोलन के नेता मिलकर विचार करें और अपने विचारों में उन लोगों को भी सम्मिलित करले जो वास्तविक व्यापारी है, और अगले पांच वर्षों के लिए उपरोक्त लिखित बातों के आधार पर एक औद्योगिक आज्ञा प्रचारित करें।
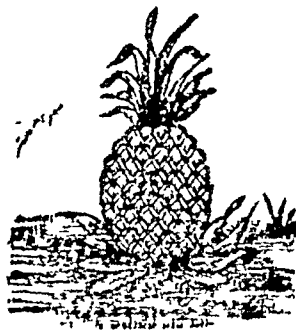
जातीय भविष्य

उपस्थित स्थिति की सब से बड़ी आवश्यकता।

हमारे सामने बड़े गम्भीर प्रश्न हल किये जाने के लिए उपस्थित हैं। "प्रश्न वे हैं जिनमें हमारी सारी शक्ति, सारा संकल्प, सारी हिम्मत, सारी आशा और वे सारी बातें जिनसे हम सब के जीवन और मरण का सम्बन्ध है, लग जानी चाहिए।" उपरोक्त वाक्य इंगलैंड के एक सर्वप्रिय पादरी ने उस समय कहे थे जब कि उसने अपने देशवासियों के विचार के लिए "जातीय आफ़तों" का वर्णन किया था। उसने ठीक कहा है कि उस समय की, अथवा किसी समय की, स्थितिओं पर दो भिन्न भिन्न प्रकार से विचार किया जा सकता है। यदि हम कुछ बातों को बिलकुल अलग करके सोचें तो हम निरे निराशावादी बन जाये। किन्तु हम दूसरी बातों को बिलकुल पृथक रीति से देखें तो हमें पक्के आशावादी बनने के कारण दिखलाई पड़ेंगे।

परन्तु बहुधा सच्चाई इन दोनों मार्गों के बीच ही में होती है। एक ओर निराशावाद से हमें पूरा पूरा नुकसान होता है। क्योंकि उससे हमारी हिम्मत पस्त हो जाती है और

हमारा उत्साह भंग हो जाता है। दूसरी ओर आशावाद से हमारे मार्ग में गलती हो जाती है। क्योंकि उससे हमारे मन का ढांचा इस प्रकार का हो जाता है कि हम सदा आशाजनक बातों ही को देखते हैं और कठिनाइयों को जानबूझ कर भुला देते हैं तथा आवश्यक यत्नों की चिन्ता नहीं करते। इसलिए सब से अच्छा और सब से सुरक्षित मार्ग यही है कि दोनों छोर बचाकर मार्ग निकाला जाय। अपने इतिहास की दृष्टि से तथा शासक जाति के इतिहास की दृष्टि से, और उन दूसरे देशों के इतिहास की दृष्टि से, जिनकी स्थिति हमारी सी हो, अवस्था की ठीक ठीक जांच कर लेनी चाहिए। व्यावहारिक बुद्धिमत्ता इसी में है कि कुछ बातों से बचा जाय। हमारी अटकल न तो बहुत ज्यादा हो और न बहुत कम। यह बात सत्य है कि अपनी कठिनाइयों को कम गिनने और अपनी योग्यता को अधिक समझने से कोई लाभ नही है। परन्तु इस से अधिक नुक़सान है कि हम स्वयं अपने और अपने देशवासियों के विषय में बहुत तुच्छ विचार रक्खें। दोनों ही बातें एकसां ख़राब है। किन्तु यदि दोनो में से चुनने के लिए मुझे मजबूर किया जाय तो दूसरी की अपेक्षा मैं पहली बात को अधिक पसन्द करूंगा। हिन्दुओं का पिछला इतिहास ध्यान में रखते हुए मेरी यह इच्छा है कि निराशावादी की अपेक्षा वे आशावादी बनें।

अब तक हम अपने विषय में, संसार के विषय में और संसार की नेकी के विषय में सन्देह करते रहे हैं। इसलिए अब समय आ गया है कि हम मन के इस भाव को बदल डालें और अपने में तथा अपने लोगों में विश्वास करने लगें और अच्छे भविष्य की आशा करें जिस से इस सुन्दर और भले संसार का सुख उठा सकें और उस से लाभ उठाने के अच्छे अवसर प्राप्त कर सकें। हमने दुख का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है और अब समय आ गया है कि उस से हम अपना पीछा छुटालें। इसके लिए हमें चाहे जो कुछ बलिदान करना पड़े। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए चाहे हमें और भी दुख उठाना पड़े और अधिक कष्ट भोगना पड़े।

यद्यपि मैं समस्त देश को उपरोक्त प्रकार की मन की दशा बनाये रखने का उपदेश करता हूं परन्तु मैं उन लोगों से, जिन्होंने देश के लोगों को अपने अधिकारों के सम्बन्ध में जागृत कराने का काम लिया है, यह कहे बगैर नहीं रह सकता कि उन्हें अपनी कठिनाई को न तो कम ही समझना चाहिए और न भुला देने ही का प्रयत्न करना चाहिए। मैं जानता हूं कि हमारे कुछ अशुभचिन्तक हमारी कठिनाइयों को इतना बढ़ा देना चाहते हैं कि हम उनके बोझ से दब जायें और उठने का सारा उद्योग छोड़ बैठें। ये भले आदमी यद्यपि चालाकी और होशियारी के गयेगुज़रे पण्डित हैं, किन्तु

अपना कोई प्रयत्न हमें और हमारे लोगों को यह विश्वास दिलाने के लिए उठा नहीं रखते कि अब हमारे लिए कोई आशा नहीं है और अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हमारा प्रयत्न करना बिलकुल व्यर्थ है तथा स्वराज्य की दशा की अपेक्षा अब हम अधिक आनन्द से हैं। कभी कभी वे हमें अग्नि और अस्त्र से डराने में भी संकोच नहीं करते किन्तु दूसरे मौक़ों पर वे बहकाने का नरम हथियार काम में लाते है। इस प्रकार डर और लालच दोनों को वारी वारी से प्रयोग करके वे फलदायक परिणामों की आशा करते हैं। वे सदा हमारे कानों में यही बात भरा करते हैं कि साम्राज्य के पास अनेक साधन है। उनकी सम्मति में ये साधन इतने पर्याप्त है कि समस्त एशिया खण्ड के घुटने टिका सकते हैं। वे हमें हमारी निर्बलताओं, चूकों और कमज़ोरियों की याद दिलाने से कभी नहीं चूकते और न यही कहने से बाज़ रहते हैं कि हम में आपस में फूट है और हम उनके चंगुल में अशक्त हैं। हम में से कुछ लोगों को वे डराते है और कुछ लोगों की प्रशंसा और चापलूसी करते हैं, यहां तक कि कुछ ऐसे लोगों को रिश्वत तक दे देते हैं, जो इस तरह वश में आ सकते हैं। हमारी बुद्धिमानी, नम्रता, संयम, दूरदर्शिता और मनुष्यता आदि सब गुणों के नाम पर वारी वारी से प्रार्थना की जाती है। नहीं, नहीं, कभी कभी तो वे अपने पक्ष में हमारी देशभक्ति

की भी दुहाई देने लगते हैं। हमारे समस्त कमज़ोर स्थानों पर आक्रमण किया जाता है और अमानुषिक प्रयत्न किया जाता कि हम स्वराज्य प्राप्त करने के सारे उद्योगों को छोड़ दें। कभी कभी तो एशिया के लोगों के लिए स्वराज्य का रूप बड़ा भयंकर, हानिकारक और अपकारी दर्शाया जाता है। आह, यह बात उन लोगों को कितनी दुखदाई मालूम होती होगी जो मनुष्य स्वभाव की न्याय-प्रियता और आन्तरिक भलमन्साहत तथा मनुष्य–आत्मा की वास्तविक सत्यता में विश्वास करते हैं। किन्तु स्वार्थ मनुष्य को अन्धा कर देता है और इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वार्थ से अन्धे होकर तथा लाभ और शक्ति के लालच के वशीभूत होकर, ये मनुष्य रूपधारी साम्राज्यवादी भेड़िये, अपने आन्तरिक भले स्वभावों को धोखा देते हैं और स्वयं अपनी आत्मा का पतन करके सच्चाई और धार्मिकता को भी नीचे गिरा देने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी तो मनुष्य स्वभाव की भलमन्साहत में आदमी का विश्वास घटने लगता है जबकि वह देखता है कि हमारे ये बनावटी मित्र हमको अटल राजभक्ति, संयम और नम्रता का उपदेश देते हैं और हमें यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करते हैं कि हमारी पूर्ण पराधीनता की अवस्था हमारे लिए पूर्णानन्द से किसी प्रकार कम नहीं है और इससे मुक्ति पाने का प्रयत्न करना पाप है। ऐसा करने से इनको

दशा और भी कष्टदायक हो जायेगी। मैं अपने लोगों को यह सम्मति दूंगा कि यदि वे आगे बढ़ना चाहते है तो वे इन मित्रों की बातों को न सुनें और उनकी धमकियों, प्रतिज्ञाओं तथा तर्कों की कुछ भी परवाह न करें। किन्तु साथ ही साथ वे स्वयं अपनी स्थिति का अच्छी तरह से अध्ययन करें और सत्य बात की खोज निकाले और जो कुछ ठीक और न्याय-युक्त हो उसे करें, परिणाम चाहे कुछ हो। भारतवर्ष की राष्ट्रीय महासभा के बाइसवें अधिवेशन के समय हमारे पूजनीय सभापति, भारतवर्ष के भीष्म पितामह, ने हमारा राजनैतिक उद्देश्य हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। हमारे समस्त राजनैतिक प्रयत्नों का उद्देश्य और हमारे सारे आन्दोलन का ध्येय हमारे सन्मुख, साफ़, भ्रम रहित और स्पष्ट शब्दों में हमारे सामने रख दिया गया है। वह समय बड़ा आनन्ददायक और ईश्वर-प्रेरणापूर्ण था जब कि श्री० दादाभाई नौरोजी ने इस सुन्दर शब्द "स्वराज्य" को चुना था। इसमें हमारी समस्त राजनैतिक आशायें सम्मलित है। उस समय से "स्वराज्य" ही हमारा रणनाद है, हमारे जीवन का सर्वव्यापी और हमारी सारी उमंगों को बढ़ाने वाला एक मात्र उद्देश्य है। अब हमारे सांसारिक जीवन का यह कर्तव्य है कि हम इस उद्देश्य के सामने अपने व्यक्तित्व को भूल जावें। क्योंकि हमने समय की आवश्यकता को देख कर और उसकी बुराई भलाई को

अच्छी तरह समझ कर, उसे स्वीकार किया है।

अंग्रेज़ी शासन के अन्दर इस देश के राजनैतिक आन्दोलन के इतिहास में यह पहला ही समय है जबकि हमारे समस्त राजनैतिक प्रयत्नों का उद्देश्य इस प्रकार स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखा गया है। और यह परमात्मा की बड़ी कृपा है कि इसके लिए हम किसी दूसरे के ऋणी नहीं किन्तु उसी मनुष्य के ऋणी हैं जो हमारे ही रक्त-मांस और हमारी ही हड्डियों से बना है-वह पुराने कुन्दे का एक टुकड़ा है और उसमें प्राचीन ऋषियों का अंश है। अब हमें अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं के अन्तिम ध्येय के लिए अन्धेरे में नहीं टटोलना पड़ता। भारतीय राष्ट्रीयता के आकाश में "स्वराज्य" ध्रुव तारे की तरह अधिकारी गद्दी से स्थापित कर दिया गया है। वहां पर वह रहेगा और हमारी आशाओं और आकांक्षाओं के मार्ग दर्शक तारे की तरह सदा तेज स्वरूप बना रहेगा तथा प्रतिभा और प्रकाश के साथ जगमगाता रहेगा। यहां तक तो सब ठीक है। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि उस ध्येय तक किस प्रकार पहुंचा जाय और उस उद्देश्य को किस प्रकार प्राप्त किया जाय। व्यावहारिक मनुष्यों की तरह, जो सदा किसी मामले को व्यवहार की दृष्टि से देखने की इच्छा रखते हैं, सब से पहले हमें अपनी सफलता के मार्ग की सारी कठिनाइयों का दिग्दर्शन कर लेना चाहिए और फिर अपने साधनों की ओर

ध्यान देना चाहिए, जिसके बल से हम अपनी कठिनाइयों का सफलता के साथ सामना कर सकेंगे। अपनी कठिनाइयों का वर्णन करते हुए मेरी सम्मति में सब से प्रथम स्थान हमे अपने ऊपर विश्वास की कमी को देना चाहिए। अविश्वास ही हमारे जीवन पर शासन करनेवाला सिद्धान्त बन रहा है। पदच्छेदन या भंजन करने की आदत हम मे अधिक आ गई है और इसी के कारण हमारे सारे काम और विचार अपंगु से हो गये है।

यह हमारे लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है कि यद्यपि हम ऐसे देश मे पैदा हुए है जहां के जलवायु में गहरी धार्मिकता भरी पड़ी है, परन्तु हम मे विश्वास और उस आत्मिक-शक्ति की कमी है, जिसके सामने सारी रुकावटें तुच्छ हैं और समय कोई चीज़ नही। आज कल हम शंका करने वाले 'टामसों' के एक समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जो भंजन का तो शौक़ रखते हैं किन्तु संयोग से बिलकुल शून्य है। कदाचित हम मे बनाने की अपेक्षा संहार करने की अधिक आदत आती जाती है। हम अपने हानि लाभ के आना पाई का हिसाब लगाते है किन्तु हम उस उद्योग की भावना से बिलकुल शून्य है जो समय पड़ने पर वीरता से कार्य्य करने के लिए उत्साहित करती है। जिस देश का इतिहास स्त्रियों और पुरुषों के हजारों ऐसे उदाहरणो से लबालब भरा पड़ा हो जिन्होंने स्वयं अपनी

इच्छा और प्रसन्नता से अपनी लज्जा, प्रतिष्ठा और विश्वास के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया हो, उसमें हम देखते है कि पाश्चात्य शासन की एक शताब्दी ने जीवन पर प्रभाव रखने वाले भावों को ऐसा बदल दिया है कि लोग मट्टी के खिलौनों का एक समूह बन गये हैं जो न तो कोई अपनी निजी इच्छा रखते हैं और न कोई विश्वास। यह परमात्मा का बड़ा धन्यवाद है कि देश ने अभी अपनी सारी आध्यात्मिकता नहीं खो दी है। अभी सुवर्ण मौजूद है। केवल एक जादूगर की आवश्यकता है जो उसे निकाल कर उन लोगों के हवाले करदे जिनका उस पर जन्मसिद्ध अधिकार है। यह प्रश्न तभी ठीक ठीक हल हो सकता है जबकि भारतीय हृदय की सच्ची प्रकृति और स्वभाव का आवाहन किया जाय, यद्यपि हमारा हृदय इस समय मौन है किन्तु हमारे इतिहास के पृष्ठों में हमे उसके दर्शन हो सकते है। मेज़िनी के शब्दो में इस उद्देश्य प्राप्ति की पहली सीढ़ी यह है कि "वर्तमान पदार्थिक लाभों की मूर्ति पूजा के साथ युद्ध किया जाय और उसके स्थान में न्याय और सत्यता की पूजा को स्थान दिया जाय। और [भारतीयों को] यह विश्वास दिलाया जाय कि वास्तविकता की ओर वे केवल बलिदान—निरन्तर बलिदान, ही के द्वारा पहुंच सकते हैं। हमारे सन्मुख केवल यह कार्य्य नहीं है कि हम एक सम्मिलित राष्ट्र उत्पन्न करने का

प्रयत्न करें किन्तु उसे बलशाली और प्रभावशाली बनायें जिससे वह अपने प्राचीन वैभव के योग्य हो और जिसे अपने भविष्य उपदेश-कार्य्य का ज्ञान हो।

भारतवर्ष इस समय पदार्थवादी है। उसे अंग्रेज़ी मंत्रियों और अंग्रेजी पारलियामेंट की शुभचिन्तना में विश्वास है। वह अपने को एक राष्ट्र बनाने की अपेक्षा अपनी बड़ी श्रेणियों के लोगों की दशा सुधारने की अधिक इच्छा रखता है। देश और उसके नेता उच्च सिद्धान्तों से आनाकानी करते हैं और कोई भी समझौता मानने के लिए तैयार है। कहीं भी कोई जगह मिल जाये उसे मंजूर कर लेंगे। अपने अधिकारों का लेसपोत करने को राज़ी है। हर प्रकार की सहायता स्वीकार कर लेते हैं। और अन्तिम (किन्तु कम महत्व की नहीं) बात यह है कि यदि कोई भी मनुष्य उनके वर्तमान कष्टों को दूर करने की प्रतिज्ञा करके उनके सामने उपस्थित हो जाता है तो उसे अपना मसीहा या उद्धारक समझने के लिए तैयार हो जाते हैं। वर्तमान समय के प्रश्नों की ओर हम अपना भाव उनकी आन्तरिक सत्यता का विचार करके निश्चित नहीं करते किन्तु यह सोच कर उन्हें ग्रहण करते हैं कि अधिकारी लोग उन्हें स्वीकार करेंगे या नहीं। हम कार्य्य करने के लिए सदा सत्य और न्याय से ही नहीं प्रेरित होते किन्तु औचित्य

सुविधा और चाल से हमारा उद्देश्य अपने विदेशी शासकों को प्रसन्न करना होता है न कि अपने लोगों को उत्साहित करना। हम क़िस्से कहानियों के संसार में रहना पसन्द करते हैं किन्तु सत्यता, विश्वास और कर्तव्य के संसार में नहीं। हम अपने भावों को इसलिए नहीं छिपाते कि वे सत्य और न्याययुक्त नहीं हैं किन्तु हम उन्हें अप्रसन्न नहीं कर सकते जिनको उन भावों से नुक़सान पहुंच सकता है। बहुधा दूसरों को धोखा देने का प्रयत्न करने में हम स्वयं अपने आप को धोखा देते हैं। इस का परिणाम यह है कि हम में उस विश्वास की शक्ति की कमी है केवल जिसके द्वारा हम मनुष्य बन सकते हैं, जो एक राष्ट्र को उत्पन्न कर सकता है और उसके लिए स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है।

हमारा असाध्य रोग यह है कि हम उस प्रत्येक बात में असीम विश्वास रखते हैं जो जांच पड़ताल और चालबाज़ी का बाहरी रूप धारण किये हो। और उत्साह, शक्ति और एक साथ काम करने में हमारा निरन्तर अविश्वास रहता है— इन्हीं तीन बातों में क्रान्ति का समस्त विज्ञान सम्मिलित है। हम स्थितियों की प्रतीक्षा, अध्ययन और अनुकरण करते हैं। न तो हम उन पर शासन करते हैं और न उन्हें उत्पन्न करते हैं। हम दूरदर्शिता या एहतियात के नाम की प्रतिष्ठा करते हैं। परन्तु व्यवहार में इसी का नाम बुद्धि की मन्दता है।

हमारा समस्त जीवन, सर से पैर तक, डर से भरा हुआ है। हमें बड़ा भारी भय है कि हम उन लोगों की दृष्टि में गिर जायेंगे जिन्हें हम अपने दिल में निरे अन्यायी या अपहरण-कर्ता समझते हैं। हमें उन लोगों की मधुर मुसक्यान के चले जाने का डर है जिन्हें हम विश्वास करते हैं कि वे रात दिन हमारे देश को लूटने में लगे हुए हैं और हमारे भाइयों को बरबाद कर रहे हैं। हम उन झूठे देवताओं को नाराज़ करने से डरते हैं जिन्हों ने छल से या बल से हमारे शरीरों पर और हमारी आत्माओं पर अधिकार कर लिया है। हमें भय है कि कहीं हम जेलखाने में या किसी कोठरी में न बन्द कर दिये जांय, मानों हमारी वर्तमान स्वाधीनता—जोकि भूलचूक से या आज्ञा से दी हुई स्वाधीनता है, स्वयं एक घृणा और निन्दा की वस्तु नहीं है। मेरी सम्मति में जो प्रश्न हमारे सामने हैं वह एक धार्मिक प्रश्न है। धार्मिक इस अर्थ में नहीं कि उसमें किसी मतमतान्तर का भाव निकलता हो किन्तु धार्मिक इस अर्थ में कि हम बड़ी से बड़ी भक्ति और बड़ा से बड़ा त्याग दिखलायें। इसलिए हमारी पहली आवश्यकता यह है कि हम देशभक्ति को धर्म के शिखर तक पहुंचादें और उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने अथवा मर जाने का प्रयत्न करें। हम धर्म में इसलिए विश्वास करते हैं कि उसमें सत्य है जिसके द्वारा हमारी आत्मा परमात्मा से मिल सकती है।

अपने परमात्मा के सामने हम अपने छोटे से अपनत्व को और अपने मन की तुच्छता को भूल जाते हैं। और इनसे परे होकर आनन्द और प्रेम के पवित्र सोते से अपनी प्यास बुझाते हैं। इसी प्रकार देशभक्ति की इमारत को भी सच्चाई और न्याय की ठोस चट्टान पर बनाना चाहिए। सच्चाई और न्याय की पूजा करने में हमें ईमानदारी और वीरता से काम लेना चाहिए और सांसारिक हानि और लाभ की कुछ भी परवाह न करना चाहिए। पहले लोगों को ईमानदारी और वीरता से विचार करना सीखना चाहिए। इसके पश्चात सच्चे ईमानदारी के और वीरतापूर्ण शब्द निकलेंगे और अन्त में खरे, वीरतापूर्ण और उत्साहवर्धक कार्य्य होंगे।

यदि हम ऐसा करें तो हमारे देश का भविष्य हमारे ही हाथों में है। पृथ्वी की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो हमारे और हमारे देश के बीच में खड़ी हो सके। क्योंकि ऐसा कोई देवता नहीं है जो एक सच्चे और वीर उपासक और उसके सर्वशक्तिमान जगन्नियता के बीच में उपस्थित हो सके। इसलिए राजनैतिक सीढ़ी का पहला डण्डा यह है कि हम अपने लोगों को सच्ची राजनीति के विद्यालय में शिक्षा दें और सच्ची देशभक्ति के धर्म में उनका आरम्भिक संस्कार करावें, जिसका मत राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और एकता हो। उसमें लोग विश्वास करें और सच्चे हृदय और भक्ति से उसके लिए

प्रयत्न करें, जैसा कि पूर्वीय चित्त रखने वाले लोगों के योग्य है। सब से पहले उच्च और सर्वव्यापी देशभक्ति के सामने, जिसमें भारतमाता के सारे प्रान्त और समस्त लोग सम्मिलित हों और जिसमें जातिपांति, मतमतान्तर और रंग आदि का कोई भेद न हो, हमें अपने निजी स्वार्थों और साम्प्रदायिक लाभों को छोड़ देना चाहिए। उस समय तक एकता की सारी चर्चा बिलकुल निरर्थक है जब तक कि हम उन लोगों के हृदय में उद्देश्य की एकता उत्पन्न करने में सफल न हों, जिन्हें हम मिलाने की इच्छा रखते हैं। यदि हम इस उद्देश्य की एकता को आर्थिक लाभों पर अवलम्बित करने का प्रयत्न करेंगे, तो डर है कि हम अपार झंझटों और अनन्तर वादविवादों में फंस जायेंगे, जिससे दुस्तर झगड़े और अजय खटपट पैदा हो जायेगी। किन्तु यदि अपने उद्देश्य की एकता की जड को आध्यात्मिक और उच्च बनाने का सच्चा प्रयत्न किया जायगा तो हमारी स्थिति संभल जायगी और हम अपनी आशाओं के बन्दरगाह में राजी ख़ुशी पहुंच जायेंगे। सौभाग्य से यह उद्देश्य की एकता उस पवित्र अभिनन्दन 'बन्देमातरम्' में और 'स्वराज्य' के रणनाद में सम्मिलित है।

अब हमें उन शक्तियों की जांच करनी चाहिए जो हमारे प्रचार कार्य में बाधा उपस्थित कर सकती है। मेरी सम्मति में यहां भी हमें सब से अधिक भय अन्दर का है नकि बाहर का।

गवर्नमेन्ट के लिए केवल दो मार्ग खुले हैं—एक तो डराने का मार्ग और दूसरा रियायत का मार्ग। पहले की अपेक्षा दूसरी नीति में सफलता की अधिक सम्भावना है। जो लोग डराने की नीति स्वीकार करते हैं उसकी आफ़त सदा उलटी उन्हीं के सर पर पड़ती है। और मुझे विश्वास है कि अंग्रेज इतने बुद्धिमान हैं कि वे इस बात को भूल न जायेंगे कि जो कुछ युरोपियन क्रान्तिकारियों ने बहुधा कहा है उसमें अधिकांश सत्य है कि:—

"ख़ून के बदले में ख़ून की आवश्यकता होती है और षड़यंत्रकारी का ख़ंजर ऐसा तेज़ कभी नहीं होता जैसा कि उस समय होता है जब कि वह किसी शहीद की क़ब्र के पत्थर पर पैना किया जाता है।"

राष्ट्रीयता की चढ़ती हुई लहर को रोकने के लिए छोटी छोटी रियायतें अधिक प्रभावशाली होती हैं। शायद दमन की नीति की अपेक्षा इस नीति से राष्ट्रीयता के भावों की शीघ्रगामी बाढ़ के रुकने का अधिक भय है। शासन की मशीन में तुच्छ परिवर्तनों, प्रत्यक्ष सरकारी दुरुपयोगों के सुधारों और कुछ अन्य अप्रभावशाली रियायतों से, जिनमें न तो सरकारी सिद्धान्तों ही का कोई परिवर्तन होता है और न उनके संगठन ही में कोई फ़र्क आता है, हमारे लोगों को कदापि सन्तुष्ट न होना चाहिए, जब तक इन सुधारों के साथ

ही साथ स्थायी संस्थाओं का विश्वास न दिलाया जाय और एक वास्तविक प्रतिज्ञा न की जाय कि लोगों ही के अधिकार शक्ति और प्रधानता मानी जायगी। मैं इस बात को तुरन्त मानने के लिए तैयार हूं कि प्रबल जाति हमारा भयंकर और घोर विरोध करेगी। किन्तु मुझे अपने भीतर के विरोध का अधिक भय है, अर्थात् उन लोगो का विरोध जो सरकारी संरक्षता का विशेष आनन्द उठा रहे है, उन लोगों का विरोध जो अपने निजी लाभों का ध्यान रखते हैं, उन लोगो का विरोध जिन्हें विशेष अधिकार प्राप्त हैं और अन्त में, किन्तु सब से अधिक उन लोगों के विरोध का डर है जो कायर और डरपोक हैं। जिस पादरी के शब्द मैंने इस लेख के आरम्भ में उद्धृत किये थे, उसने सामाजिक सुधार सम्बन्धी अपने लेखों में से एक में अंग्रेज़ी समाज की वर्तमान सामाजिक कुरीतियों की ओर अपने देशवासियों के भाव का नीचे लिखा हुआ चित्र खींचा है। वह कहता है—

"हम में से कुछ लोगों का—हमें आशा करना चाहिए कि बहुत थोड़े लोगों का—भाव केवल यह है कि संसार में आनन्द से रहने और चपलता का जीवन व्यतीत करने की बिलकुल चिन्ता न करनी चाहिए, दिल ऐसा मोटा होना चाहिए जैसा कुकुर का मांस और ऐसा ठण्डा जैसा कि बर्फ़ तथा ऐसा प्रसन्न जैसा कि चक्की का पाट फ़ालतू और अधम

से प्राप्त किया हुआ धन इकट्ठा करना चाहिए, उसे जोड़ कर जमा किया जाय, भोग विलास में बहाया जाय अथवा आलसी कुटुम्बों के बनाने के लिए रख छोड़ा जाय। जो लोग अपनी सारी बड़ी सम्पत्ति, एक बहुत ही तुच्छ भाग को छोड़कर, केवल अपनी निजी वासनाओं के तृप्त करने और अपना ठाट बाट बढ़ाने में ख़र्च करते हैं, उन्हें सेंट जेम्स का यह बड़ा ही ज़ोरदार सन्देश मिलता है कि "तुम्हारा धन दूषित है, तुम्हारे वस्त्रों में कीड़े लग गये हैं; तुम संसार में बड़े आराम से रहे हो, तुमने ख़ूब आनन्द किया है; तुमने संहार के दिवस में अपने दिल का पालन पोषण किया है।" दूसरी प्रकार के लोगों का भाव घृणापूर्ण दया का है जो एक ओर तो रूखा है और दूसरी ओर निराशाजनक। .... इसके बाद तीसरे प्रकार के लोगों का रुझान अज्ञानतापूर्ण अंगीकारता की ओर है। वे इन सब बातों से थक गये हैं, इनके विषय में बात करने से तङ्ग हैं। ऐसी बातों से वे चिढ़ते हैं। यदि आप उनसे इस प्रकार की कोई बात करें तो वे अपने कन्धे मटका कर अपना असन्तोष प्रगट कर देते हैं और कहने लगते हैं कि "हम क्या कर सकते हैं।" यदि आप उनसे कुछ सहायता मांगते हैं, तो उनपर "इतने तकाज़े" हैं कि वे किसी को कुछ नहीं देते। यदि आप अपनी मांग के लिए अधिक ज़ोर डालें तो वे अपनी अप्रतिष्ठा समझकर नाराज़ होते हैं। यदि आप

कोई उपाय उपस्थित करे तो उसे वे कपोल कल्पना कह कर टाल देंगे। यदि आप किसी दुखदाई वृतान्त का वर्णन कीजिए तो वे आप को भावुक कहने लगेंगे। यदि आप किसी सार्व-जनिक प्रयत्न मे भाग लेते हैं तो वे आप को "अपने आप प्रसिद्ध कराने वाला' कह कर आप का मज़ाक उड़ायेंगे। केवल एक चीज़ जिसमे उन्हे विश्वास है वह है उनका स्वार्थ पूर्ण 'चलने दो'। वे इतनी ही चिन्ता करते हैं कि हरएक वस्तु अपने समय से होगी। वे इतने वासनाप्रिय और स्वार्थी हो जाते है कि वे अपने भोग विलास और निजी सुख को छोड कर किसी दूसरी बात की चिन्ता ही नहीं करते।"

यदि उपरोक्त बातो को भारतीय समाज के सम्बन्ध में लगाया जाय, तो मुझे डर है कि चित्र को और भी अधिक काला बनाना पडेगा। कम से कम अंग्रेज़ी समाज मे विश्वास-घाती लोग नहीं है। हमारे सम्बन्ध में मुख्य बाधा केवल यही नहीं है कि समाज का एक बडा भाग उन्नति की ओर प्रयत्न करने से सदा जानबूझ कर हमें निरुत्साह करता रहता है और हमारे आगे बढने के मार्ग में केवल मज़ाक उड़ाने वाले और रूखे लोग ही रुकावट नहीं डालते; किन्तु सब से बडे भयानक वे लोग हैं जो आप में से हैं और आप के साथी होने का दावा करते है परन्तु जिनका हृदय आप के साथ नहीं है और उनकी समझ के अनुसार उनका स्वार्थ

दूसरी ओर है। यद्यपि वे प्रत्येक पग पर अपना भण्डा फोड़ देने के लिए तैयार रहते हैं परन्तु वे उत्साही और सच्चे लोगों का मज़ाक उड़ाकर तथा चुपचाप और गम्भीरता से उनके उद्देश्यों पर शङ्का करके और उनके प्रति अन्य लोगो का मन दूषित करके अपनी झेंप मिटा लेते हैं। उनके भावों में कोई परिवर्तन नहीं होता चाहे उनके सामने धार्मिक, सुधार उपस्थित हो या सामाजिक अथवा राजनैतिक। धार्मिक सुधार के नाम से उन्हें इसलिए कष्ट होता है कि यह निरा पागलपन है और सामाजिक सुधार से वे इसलिए चिढ़ते हैं कि इस से बेहद आचार-विचार और मनुष्य-द्रोह उत्पन्न हो जायेगा। और राजनैतिक सुधार के नाम से तो वे कांपते हैं। और इस सारी बात की ख़ूबी यह है कि उनमें से बहुत से लोग हर मामले में हस्तक्षेप करने से बाज़ भी नहीं रह सकते। वे ऐसी सभाओं के सदस्य बनते हैं जिनका निश्चित उद्देश्य धर्म प्रचार करना है। वे उस समय तक सामाजिक सुधार में बड़ा प्रेम दर्शाते हैं जब तक वह उनके कहने के अनुसार जीवन के आनन्दों में बाधा नही डालता। जिस समय लोकमत किसी प्रकार उनके "जीवन के आनन्दों" में बाधा डालता है तो वे बड़ी वीरता का भाव दिखलाते हैं और लोकमत की अवहेलना करते हैं किन्तु वे उस समय भेड़ के बच्चों की तरह सीधे हो जाते है जब कि उनकी स्त्रियां और विरादरी के लोग इस

बात पर ज़ोर देते हैं कि वे अपने बालकों और बालिकाओं का विवाह संस्कार कोमल अवस्था में करदें। राजनैतिक सभायें तो उनकी विशेष आखेट-भूमि हैं। यदि इन लोगों को सुविधा होती है और कुछ लाभ होने की सम्भावना होती है तो सार्वजनिक सभाओं में सभापति का आसन सुशोभित करने में उन्हें तनिक आपत्ति नहीं होती और न प्रस्तावों को उपस्थित करने तथा समर्थन करने में वे एतराज़ करते हैं और न कान्फ़रेन्सों और कांग्रेसों में सम्मिलित होने से परहेज़ करते हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी वे उन लोगों का मज़ाक उड़ाने और ठट्ठा करने में आनन्द उठाते ही रहते हैं जो इन मामलों पर गम्भीरता पूर्वक और लगन के साथ विचार करते हैं। साधारण लोग राजनैतिक विचारों से इतने अनभिज्ञ हैं कि उनके लिए यह समझना असम्भव है कि ये भले आदमी वास्तव में कौन सा खेल खेल रहे हैं। यही कारण है कि बहुधा ये लोग दबा दिये जाते हैं और अपने अधिकारों के लिए धीरता के साथ डटे रहने की अपेक्षा यह सोचने लगते हैं कि हमें इन मामलों में हस्तक्षेप न करना चाहिए।

इसलिए वर्तमान अवस्था की पहली आवश्यकता यह है कि प्रत्येक प्रान्त में कुछ रात दिन काम करने वाले लोग आगे बढ़ें, जो राजनैतिक शिक्षा देने और अच्छे विचारों को फैलाने में प्रेम पूर्वक लग जायँ और मज़ाक उड़ाने वालों और धूर्तक

लोगों की बातों की तनिक भी परवाह न करें। श्रीमान् दादा भाई नौरोजी हमसे कहते हैं कि आन्दोलन करो, आन्दोलन करो और आन्दोलन करो। मैं कहता हूं 'आमीन' (ऐसा ही हो)। किन्तु इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आन्दोलन एक शिक्षा सम्बन्धी कर्तव्य है जिसे हमें बिना यह विचार किये हुए करना होगा कि कुछ रियायतें मिल जाने से हमें सफलता प्राप्त हो जायगी। लोगों को इस बात की आदत हो जानी चाहिए कि आन्दोलन केवल आन्दोलन करने ही की इच्छा से किया जा रहा है और किसी क्षणिक कष्ट को निवारण करने की आशा से नहीं। मेरी सम्मति में निराशा से बचने का केवल यही एक मार्ग है और इसी से लोग अधिक प्रभावशाली राजनैतिक कार्य्य करने के लिए तैयार होंगे। हमारे आदरणीय देशवासी श्रीमान तिलक जी लोगों को यह सलाह देते हैं कि शासन की वर्तमान प्रणाली को निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा असम्भव बना दो। मैं कहता हूं कि यह तभी हो सकता है जब लोगों को सिद्धान्तों के लिए कष्ट उठाने की आदत डालने की शिक्षा दी जाये अर्थात् लोग हिम्मत करें और जोखिम उठायें। और लोगों में ये भाव भर दिये जायें कि जब कभी सिद्धान्त का प्रश्न हो तो वे किसी बात की परवा न करें। यह मार्ग व्यक्तिगत उदाहरण से बतलाना चाहिए केवल उपदेशों से नहीं। पुरानी कहावत मशहूर है कि

"बिना जोखिम के कुछ लाभ नहीं होता।" वह प्रणाली जिसमें कम से कम सर्वस्व हो, कागज़ पर खाली प्रस्ताव पास कर दिये गये हो, केवल प्रार्थनापत्र और विनयपत्र ही हों, और ऐसे प्रार्थनापत्र न हों जिनकी पृष्ठि पर ऐसी बातें हो जिनसे हमारी सच्चाई के सम्बन्ध की बिलकुल शङ्का ही मिट जाये, काम करने की यह प्रणाली मर्दों की अपेक्षा स्त्रियों के अधिक योग्य है। यदि देश के राजनैतिक नेताओं से प्रश्न करने की मुझे आज्ञा है तो मैं उनसे पूछ सकता हूं कि जो राजनैतिक मांग उन्होंने उपस्थित की है उनकी सच्चाई के सम्बन्ध में उन्होंने अब तक कौन से अकाट्य प्रमाण दिये हैं। यदि इन प्रमाणों के लिए योग्य समय नहीं था और अब भी नहीं है तो उन्होंने क्यों नहीं जापानियों की तरह घर पर चुपचाप तैयारी करली पेश्तर इसके कि अपने जोशीले व्याख्यान और शब्दाडम्बर से भरे हुए प्रस्ताव लेकर बाहर आवें। यदि हमने राजनैतिक आन्दोलन के २२ वर्ष व्यर्थ ही नहीं नष्ट किये हैं और यदि स्वदेशी और बहिष्कार केवल मौखिक शब्द ही नहीं हैं जिन्हें हमने अपने श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रयोग किया है, तो अब हमें गम्भीरता पूर्वक उनकी ओर ध्यान देना चाहिए और अपने राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने की सच्ची लगन के सम्बन्ध में अकाट्य प्रमाण देना चाहिए।

अभी तक हमारे काम में उस प्रबन्ध और प्रौढ़ता की

कसो रही है जो अच्छी तरह से विचार की हुई और ठीक ठीक रीति से संगठित की हुई नीति का परिणाम होती है। अब तक राजनैतिक आन्दोलन की कभी कभी लहरें आती रही हैं। यह आन्दोलन पूर्णतया उन भले आदमियों की फ़ुर्सत के समय पर निर्भर रहा है जो अपने विद्वतापूर्ण पेशों और व्यापारों से निकाल कर सुगमता से इसके लिए दे सके हैं। यद्यपि उन्होंने इस परिश्रम को केवल प्रेम से ही प्रेरित होकर किया है परन्तु इसने सदा उनके विचारों में दूसरा स्थान प्राप्त किया है। देश अभी तक उस श्रेणी के लोगों को उत्पन्न करने में असफल रहा है जिनके जीवन का मुख्य और विशेष उद्देश्य राजनैतिक शिक्षा और राजनैतिक आन्दोलन ही रहा हो। राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य और महान आवश्यकता यह है कि कुछ ऐसे देशभक्त, योग्य, सच्चे और लगन लगे हुए लोग आगे बढ़ आवें जो स्वतन्त्रता से देशभर में भ्रमण करते रहें और अपने कथन और उदाहरण से स्वतन्त्रता के सुसमाचार का उपदेश देते रहें। और जो अपने विचारपूर्ण वाक्यों और सेवा-भाव के जीवन से जन-साधारण को सत्यता और न्याय के मार्ग की ओर आकर्षित करलें। वर्तमान समय में इस श्रेणी के लोगों का अभाव तथा अन्य कठिनाइयों के एक साथ मिल जाने के कारण सचमुच राष्ट्रीय भविष्य बड़ा भयानक दिखलाई देता है। किन्तु सारी बातों को परिवर्तन

करने की औषधि हमारे ही हाथ में है।

देश में चारों ओर से जागृति हो रही है। और जिस श्रेणी के लोगों का मैंने ऊपर वर्णन किया है यदि वे लोग इस जागृति का ठीक ठीक सदुपयोग करेंगे तो मुझे विश्वास है कि वर्तमान घिरे हुए काले बादल, साहस और उत्साह के प्रकाश-की रेखाओं से दूर हो जायेंगे और राष्ट्रीयता की उत्पत्ति का सूर्योदय और आशा का अभ्युदय होगा। प्रचलित अनैक्यता और अन्य बुराइयों को देखकर हम में से बहुत से लोग घबड़ा जाते हैं किन्तु ये बुराइयां विदेशी शासन का आवश्यक परिणाम हैं। यह बात सत्य है कि अनैक्यता ही के कारण सदा विदेशी शासन आ जाता है किन्तु जब वह एक बार आ गया तो अनैक्यता उसको बढ़ाती है और उसको पुष्टि करती है तथा उसकी जड़ जमाती है। क्योंकि बिना अनैक्यता के उसके जारी रहने का मूल कारण नष्ट हो जाता है। देश मे संकीर्ण, साम्प्रदायिक और मतमतान्तरों के भावों को प्रचलित देख कर हम में से कुछ लोग बहुत क्रुद्ध होते हैं (कभी कभी उचित रूप से) और उनकी दृष्टि में राजनैतिक स्वतन्त्रता के मार्ग में यह एक ख़ास रुकावट है। और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के अभिप्राय से वे सच्चाई और लगन के साथ इस भाव को समूल नष्ट करने में जुट जाते हैं। उनके इन उच्च भावों और उदार इच्छाओं की जोकुछ प्रतिष्ठा

की जाय वह थोड़ी है। परन्तु यदि शान्त चित्त से देखा जाय तो यह मानना पड़ेगा कि ऐसा करना असम्भव है। यदि स्वराज्य रूपी बरदान हमें उस समय तक न प्राप्त होगा जब तक कि इस देश के लोग साम्प्रदायिकता को न छोड़दें, और किसी एक धर्म को न मानलें अथवा कोई धर्म ही न मानें, तब तो मुझे डर है कि हमारे लिए कोई आशा नहीं है। हमारे सन्मुख प्रश्न यह है कि जो बातें हमारे सामने हैं हम उन्हें जैसी की तैसी स्वीकार करलें और फिर उनपर अथवा उनके विरुद्ध राष्ट्रीयता की इमारत बनावें। मुझे आशा है कि जो कुछ मेरा मतलब है उसका अनर्थ न किया जायगा। हमारे देश में जो भिन्न भिन्न धर्म पाये जाते हैं उनके अनुयायिओं में उदारता के भावों को उत्पन्न करने के विरुद्ध मैं कदापि नहीं हूं। इस सम्बन्ध में जितने उत्साह से आप काम कर सकते हैं, कीजिए। मैं चाहता हूं कि आप को पूरी सफलता हो। परन्तु मैं यह विश्वास करने में असमर्थ हूं कि इस देश से अथवा किसी देश से साम्प्रदायिकता बिलकुल दूर हो सकती है। इसलिए इन बातों के होते हुए भी हमें अपना सारा प्रयत्न राष्ट्रीयता के उत्पन्न करने की ओर लगा देना चाहिए। मैं यह नहीं कह सकता कि यह बात कहां तक ठीक है कि धर्म या धार्मिक सम्प्रदायों को बिलकुल ही उड़ा देना चाहिए, यदि ऐसा करना सम्भव हो तो। धर्म के ये सारे भेद संसार के साधा-

रस व्यापार में अपना एक विशेष कार्य्य करते हैं और बहुत से ऐसे लोग है जिनके विचारों की हमे बड़ी से बड़ी घृणा करनी चाहिए और जो सोचते हैं कि यदि संसार से ये भेद बिलकुल दूर कर दिये जायेंगे तो संसार अधिक दरिद्र और एक ही ढङ्ग का हो जायेगा। हमारे पाठक शायद यह बात जानते होंगे कि बर्क ने फ्रान्स के क्रान्तिकारियों को उस स्थान पर कैसा फटकारा है जहां कि उन्होंने सर्वव्यापी समता के प्रचार का प्रयत्न किया है। "फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति पर विचार" नामक अपनी पुस्तक में, फ्रान्स वालों को सम्बोधित कर के वह उनको उस बुद्धिमत्ता के सम्बन्ध में नीचे लिखे हुए वाक्यों में शङ्का करता है जिसके द्वारा उन्होंने अपने सङ्गठित नियमों मे घोर परिवर्तन किये थे:—

"आप के पुराने राज्यों में अङ्गों की वह भिन्नता थी जो भिन्न भिन्न वर्गों से मिलती जुलती थी और सौभाग्य से उन्हीं से आप का समाज बना हुआ था। आपके पास सब प्रकार के विरोधी रितों का जमघट था। उनमे वे कार्य्य और विरुद्ध-कार्य्य होते थे, जो प्राकृतिक और राजनैतिक संसार में भिन्न भिन्न शक्तियों के आपस के संघर्षण से विश्व के मेल का निर्माण कराते हैं।"

फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के विषय में बर्क ने जो शाप दिये थे, उनकी युक्ति के विषय में अपनी कोई सम्मति न देकर मैं

इतना अवश्य कहूंगा कि उपरोक्त वाक्य में बहुत कुछ सत्यांश है। इस में सन्देह नहीं है कि संसार केवल अपनी भिन्नता ही के कारण सुन्दर और भला मालूम देता है। मनुष्य की इच्छा का सदा यही उद्देश्य रहा है, इस समय है और रहना चाहिए कि वह भिन्नता में ऐक्यता को ढूंढे। राष्ट्रों का संगठन और एकीकरण उन भेद-भावों ही से होता है जो उनकी जनता की भिन्न भिन्न श्रेणियों में पाये जाते है। एकता के देव-दूत को सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि वह उस एक ध्येय को ढूंढ निकाले जिसे प्राप्त करना सब का समान उद्देश्य हो और सबके लड़ने के लिए शत्रु भी एक ही हो। समान शत्रु के सन्मुख और समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सब भेद भावों को भुला देना चाहिए किन्तु यदि कोई शत्रु न हो और न कोई उद्देश्य ही प्राप्त करना हो तो भेदभावों को भुलाने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। क्योंकि यही और केवल यही राष्ट्रीयता की समान नींव हो सकती है, इसलिए मैं नहीं समझता कि भारतीय ऐक्यता के मार्ग में अलङ्घनीय कठिनाइयां उपस्थित हो सकती हैं, यदि साम्प्रदायिक तथा अन्य अन्य भेदों को इस दृष्टि से देखा जाय।

दूसरी कठिनाई जिससे हम घबड़ा जाते हैं वह हमारे देशवासियों की निरक्षरता और मूर्खता है, जनसाधारण को शिक्षा देने की परम आवश्यकता को मानते हुए, मैं इस बात

के औचित्य को मानने में असमर्थ हूं कि स्वराज्य की मांग के पहले यह आवश्यक है कि सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हो जाये। वास्तव में बात यह है कि बिना स्वराज्य के किसी प्रकार की सार्वजनिक शिक्षा की आशा करना बिलकुल निरर्थक है। सवासौ वर्षों से अधिक राज्य करने पर भी अंग्रेजी शासन ने भारतवर्ष के लोगों में से केवल पांच या छः फ़ीसदी को शिक्षित बना पाया है किन्तु चालीस वर्ष के भीतर ही भीतर सारा जापान शिक्षित हो गया। यद्यपि शिक्षा का कार्य्य हमारे राष्ट्रीय कामों मे एक श्रेष्ठ कार्य्य है परन्तु उसे स्वराज्य की मांग के पहले पूर्ण होने वाली शर्त बना देना आवश्यक नही। यहां पर भी मुख्य प्रश्न मनुष्यों और धन का है। आप मनुष्य तैयार कीजिए, रुपया तो आप ही आप आ जावेगा। इसलिए यही मुख्य वस्तु है जिसे ढूंढ़ने के लिए राष्ट्र को अपनी सारी शक्ति और योग्यता लगा देनी चाहिए।

यदि प्रत्येक प्रान्त से आप हमें ऐसे एक दर्जन मनुष्य दे दें जिनका एकमात्र कार्य्य राष्ट्रीय जागृति को उत्पन्न करना होगा तो हमारी अवस्था बहुत प्रकाशमान हो जायेगी और आशाजनक परिणामों के लक्षण दिखाई देने लगेंगे। हमें आशा करना चाहिए कि देश की सर्व श्रेष्ठ योग्यता और सर्व श्रेष्ठ देशभक्ति उन उपायों के ढूंढने में लगी हुई है जिनके कारण हमको अन्त में इच्छित श्रेणी के लोग मिल जायेंगे जो

हमारी वर्तमान शंसयजनक स्थिति में हमारे राष्ट्रीय सन्यासी होंगे। शायद इसी तरह के समय के विषय में कहा गया है कि "थे वे समय हैं जब मनुष्यों की आत्माओं की परीक्षा होती है। अमीरी के समय का सिपाही और मालदार अवस्था का देशभक्त ऐसी नाजुक हालत में, अपने देश की सेबा करने से हट जायेगा। किन्तु जो मनुष्य इस समय डटा रहता है वह स्त्रियों और पुरुषों के धन्यवाद का पात्र है। नर्क की तरह अत्याचार भी सुगमता से नहीं जीता जाता। किन्तु हमें इस बात का सन्तोष है कि जितना ही कठिन संग्राम होगा उतनी ही महान हमारी विजय होगी। जिस वस्तु को हम अधिक सुगमता से प्राप्त करते हैं उसकी हम बहुत ही कम प्रतिष्ठा करते हैं। एक वस्तु का मंहगापन ही उसको अधिक मूल्य-वान बनाता है। इस बात को ईश्वर भी जानता है कि उसकी वस्तुओं का ठीक ठीक मूल्य किस प्रकार लगाया जाय; और वास्तव में यह बात विचित्र ही होती यदि स्वतन्त्रता के सदृश ईश्वरीय वस्तु का मूल्य अधिक न लगाया गया होता।"

हिन्दू राष्ट्रीयता का अध्ययन
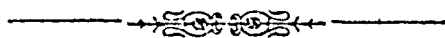
'समाचार' के जून मास के अङ्क मे एक 'हिन्दू राष्ट्रवादी' ने जो लेख 'हिन्दू राष्ट्रीयता के जन्म' पर लिखा था उसको मैंने बड़े शौक़ से पढ़ा है। मेरे मित्र पण्डित माधोराम ने जो लेख इसी विषय पर और इसी पत्र के अन्तिम अङ्क में लिखा था उसे भी मैंने पढ़ लिया है। 'हिन्दू राष्ट्रवादी' महाशय ने पढ़े लिखे हिन्दुओं से जो प्रार्थना की है मैं उसमें अपने हृदय से सम्मिलित होता हूं परन्तु मैं उनके इस विचार से सहमत नहीं हूं कि "राष्ट्रीयता का विचार वास्तव में युरोपियन और आधुनिक विचार है।" अपने कथन की पुष्टि में सहारा लेने के लिए इतिहास की घटनाओं का जिस प्रकार उन्होंने अध्ययन किया है, मैं उससे भी सहमत नहीं हूं। मेरे नम्र विचारों में 'राष्ट्रीयता' और 'देशभक्ति' के विचार उतने ही पुराने हैं जितने कि पृथ्वी के भिन्न भिन्न देश। ये विचार उतने ही प्राचीन हैं जितने कि उन जातियों और धर्मों के भेद पुराने हैं जो संसार में इतिहास के समय से पहले विद्यमान थे और जिस समय का हमें स्मरण भी नहीं है। किसी युग में उनका विशेष रूप से दर्शन हुआ है और किसी में नहीं। भिन्न भिन्न जातियों और राष्ट्रों पर उनका प्रभाव कम या ज़्यादा

रहा हो परन्तु ये विचार सदा उनमें मौजूद अवश्य थे और उसी प्रकार अटल और अपरिवर्तनशील थे जैसे कि सच और झूठ के विचार। यह मेरा पक्का विश्वास है। 'हिन्दू राष्ट्रवादी' ने राष्ट्रीयता और देशभक्ति के भावों के आरम्भ के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये हैं उनपर दार्शनिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से वादाविवाद करने का मेरा इरादा नहीं है। किन्तु इतना कहना पर्याप्त है कि जो परिणाम उन्होंने निकाले हैं उनमें से मैं बहुतों से सहमत हूं और जो इलाज या उपाय बताये गये हैं उनका साधारण रीति से समर्थन करने के लिए तैयार हूं। असल बात यह है कि जो विचार उनके इस लेख में प्रगट किये गये हैं, उसी तरह के विचार मैंने पहले ही अपने एक लेख में, जो कांग्रेस के सम्बन्ध में लिखा गया था, सन् १९०१ के अक्टूबर मास के 'समाचार' में प्रगट किये थे। यहां पर इस बात का ज़िक्र इसलिए नहीं किया गया है कि 'हिन्दू राष्ट्रवादी' ने मेरे विचार चुरा लिए हैं किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि आजकल उन हिन्दुओं के मन में इसी प्रकार के विचार सर्वोपरि रहते हैं, जो अपने देश के लोगों से प्रेम करने का दावा करते हैं और उनकी उन्नति के उपाय सोचते हैं।

आरम्भ ही में राष्ट्रवादी महाशय ने इस बात की शिकायत की है कि हिन्दुओं में राष्ट्रीयता के भाव का अभाव है

और उनके विचार के अनुसार हमारे भूत और वर्तमान काल के सारे दुःखों का कारण यही अभाव है। आगे चलकर वे कहते हैं कि संसार में हिन्दू लोग एक विचित्र जाति का उदाहरण पेश करते हैं जिनमें राष्ट्रीयता के भाव की कमी है। इस वाक्य को सामने रखकर वह अपने परिणामों की पुष्टि में इतिहास के पन्नों की शरण लेते हैं और देखने से ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने अपने दावों को बहुत मज़बूत बना लिया है। परन्तु वह जानबूझ कर इस बात को भूल जाते हैं कि उनका यह वाक्य एक ही नाम रखने वाले लोगों के अस्तित्व को मान लेना है, जिन्होंने अपना इतिहास उसी नाम से बनाया हो। बिलकुल बिना जाने हुए वह हिन्दू राष्ट्रीयता के अस्तित्व को उस समय मान लेते हैं जब कि वह इस बात का ज़िक्र करते हैं कि राजपूतों और मरहठों ने इस बात का असफल प्रयत्न किया था कि वे विदेशी जुए को अपनी गर्दनों से उतार फेंकें और एक हिन्दू साम्राज्य स्थापित करें। उन्हें इस बात की शिकायत है कि इस प्रकार के प्रयत्न केवल एक प्रकार की उमंगें थीं। लोगों के साधारण जनसमुदाय ने उनका समर्थन नहीं किया था। और इसलिए उन्हें बिलकुल राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन बातों का ज़िक्र करते समय वे अनुमान से इस बात को मानते जाते हैं कि एक ऐसा राष्ट्र था जो सम्मिलित प्रयत्न कर सकता था और जिसे

ऐसा प्रयत्न करना भी चाहिए था। अन्यथा उनके इस कहने का क्या मतलब हो सकता है कि "हिन्दुओं की अन्तिम लड़ाई लड़ने के लिए मरहठों को अकेला छोड़ दिया गया था। न तो उनकी सहायता सिसोदिया लोगों ने की और न राठौरों ने।" वह इस बात को मानते हैं कि "यदि मरहठा संघ बे-रोक टोक बढ़ने दिया जाता तो वह अवश्य एक राष्ट्रीय साम्राज्य बन जाता।" इन प्रमाणों के होते हुए हम राष्ट्रीयता के अस्तित्व से केवल इसीलिए नहीं इनकार कर सकते कि उस जाति के सब लोग अपनी रक्षा के संग्राम में नहीं सम्मिलित हुए थे अथवा कुछ लोग असफल हुए थे या देशद्रोही प्रमाणित हुए थे या शत्रु दल में जा मिले थे। राष्ट्रीयता के भावों के अस्तित्व से भी हम केवल इसलिए इनकार नहीं कर सकते कि वह भाव न तो पूर्ण रूप से दिखलाई ही देता था और न इतना मजबूत ही था कि जिसके ज़ोर से उस जाति के भिन्न भिन्न लोग अपने भेद भावों को दबा सकते ताकि वे इस योग्य हो जाते कि एक मनुष्य होकर अपने राष्ट्रीय स्वत्वों की रक्षा कर सकते। दूसरी बात यह है कि हम उस सम्मिलित मुकाबिले को क्यों भूल जाते हैं जो समस्त जातियों के हिन्दुओं ने महमूद गज़नी के चौथे हमले के समय किया था और साथ ही पाण्डवों, अशोक, विक्रमादित्य, हर्ष, भोज और अन्य लोगों के साम्राज्य को हम क्यों भुला देते हैं? हिन्दुओं का अन्तिम

सम्राट, अभागा पृथ्वीराज, जिसने कि अपने साम्राज्य का दण्ड थानेश्वर की लड़ाई मे भोगा, इस योग्य था कि अपने साम्राज्य और पित्र-भूमि की मान सहित और बहादुराना रक्षा करने के लिए लगभग सारी जाति की सेवाओं का सदुपयोग दो बार कर सका। कौन जानता है कि यदि जैचन्द जैसा विश्वासघाती न होता तो इतिहास दूसरे ही प्रकार का बनता? किन्तु जैचन्द का विश्वासघात और पृथ्वीराज की हार उस बहादुरी के मुक़ाबिले में कोई कमी नही पैदा करते जो सारी जाति ने विदेशियों के सामने उपस्थित किया था। जीत और हार केवल मनुष्य के हाथ में नही है। उसके बहुत से कारण हुआ करते हैं जिनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो लडने वाले दलों की शक्ति के बाहर होते हैं। यदि ११९३ में परमेश्वर की यही इच्छा थी कि हिन्दुओ का पतन हो तो केवल इसी से हमे काफी प्रमाण नही मिलता कि हम उस समय के हिन्दुओ की निन्दा करे और कहे कि वे लोग राष्ट्रीय भाव से सर्वथा शून्य थे। जैसा कि मैंने पहले कहा है कि उस समय हमारा दूसरी जातियों द्वारा एक विशेष नाम से पुकारा जाना ही इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू राष्ट्रीयता का अस्तित्व था।

अब बहुत पुराना हो गया कि इस बात पर विश्वास करना रहे कि 'हिन्दू' नाम हमको पहले पहल बतौर गाली, घृणा और निन्दा के हमारे मुसलमान हमला करने वालों ने

दिया था। किन्तु इसके प्रतिकूल मैं विश्वास करता हूं कि हमारे पतन और अधोगति ने ही इस शब्द के पतन में भी सहायता की है। और यदि हम इस शब्द के व्याकरण सम्बन्धी इतिहास की ओर दृष्टि डालें तो यह प्रमाणित हो जायगा कि इस शब्द के जो बुरे अर्थ इस समय फ़ारसी कोष में लगाये गये हैं वे बहुत पीछे उत्पन्न हुए थे और वे हिन्दू जाति के पतन का एक परिणाम मात्र हैं। मुसलमानी आक्रमण के बहुत पहले और शायद इस्लाम के पैगम्बर के उत्पन्न होने के भी बहुत पहले दूसरे देशों के लोग हमें हिन्दू नाम से जानते थे। यदि ऐसा है, तो इस नाम का क्या मतलब है? क्या इससे किसी वर्ण विशेष का या किसी गोत्र का अर्थ निकलता है? मैं कहता हूं नहीं, क्योंकि हिन्दुओं मे बहुत से गोत्र और वंश थे। क्या यह एक जातीय नाम था? मैं फिर कहता हूं कि नहीं, क्योंकि ईरान के फ़ारसी लोग भी उसी जाति के थे। तब क्या यह एक धार्मिक नाम था? हां, निस्सन्देह यह कुछ कुछ धार्मिक नाम है, किन्तु विशेषकर यह एक राष्ट्रीय नाम है और इसके प्रमाण में मैं प्राचीन ग्रीस के इतिहासकारों और मुसलमान लेखकों के ग्रन्थों से बहुत से वाक्य उद्धृत कर सकता हूं। उदाहरणार्थ, बतलाइये कि प्रतिभाशाली फ़िरदौसी, जो कि फ़ारिस का 'होमर' कवि था, किस दूसरे अर्थ में हिन्दू शब्द अपने शाहनामे में इस्तेमाल करता है? अपनी अपनी

प्रधानता स्थापित करने की जो लड़ाई ईरानियों और तूरानियों में हुई थी उसको इस कवि ने अपनी कविता से अमर कर दिया है। इस महान पुस्तक शाहनामे को आप उठाकर कहीं भी देख लीजिए आपको हिन्दू शब्द के यही अर्थ मिलेंगे।

इसके पश्चात पारसिओं के धर्म ग्रन्थ 'विन्दी दाद' और अन्य ग्रन्थो में ऐसे बहुत से वाक्य मिलते हैं जिससे हमारा जिक्र हिन्दू शब्द से किया गया है। जहां तक नाम का सम्बन्ध है हमारी कठिनाई इसलिए उत्पन्न होती है कि हम स्वयम् अपने साहित्य मे इस शब्द का कोई चिन्ह नहीं पाते, क्योंकि प्रत्येक स्थान पर हम 'आर्य्य' शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। परन्तु यहां भी हम उन वाक्यों मे राष्ट्रीयता के भाव के समुचित चिन्ह पाते है जिनमे ऋषियों ने आर्य्यों को आज्ञा दी है कि दस्यों, चाण्डालों और म्लेच्छों के आक्रमण के सामने सब आर्य्यों को एक हो जाना चाहिए। बहुधा इन लोगों से रक्षा करने के लिए देवताओं का आवाहन किया गया है। यदि हिन्दुओं में साम्राज्य भाव की झलक देखना हो तो रामायण और महाभारत को देखिए। ये दोनों पुस्तकें इस प्रकार के भावों से भरी पड़ी हैं। सम्राट युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ क्या था और जरासिन्धु की न्यायपूर्ण तदवीर को आप किस नाम से पुकारेंगे?

वास्तविक बात यह है कि आर्य्यों की प्रधानता का सब

से महान युग अब तक हमारे लिए एक गुप्त अध्याय है। बुद्ध के पहले का लगभग सारा समय रहस्य में छिपा हुआ है। जो कुछ भी साहित्य हमे मिला है वह इतने संकेतों, पहेलियों, इशारों और नामों से भरा पड़ा है और ऐसी पेचदार भाषा में लिखा है कि सारा का सारा एक रहस्य मालूम देता है। युरोप के अच्छे से अच्छे विद्वानों की राय के मुवाफ़िक वेदो की भाषा इतने अप्रचलित और पेचदार शब्दो और वाक्यों से भरी पड़ी है कि सब का सब एक प्रकार का संकेत साहित्य मालूम पड़ता है, जिसका अर्थ निकालने के लिए महान प्रयत्न करने पर भी वर्षों लग जायंगे। तोभी उनके विषय में हम काफ़ी तौर से जानते और समझते है और इसी कारण हमें जो कुछ राष्ट्रीय साहित्य के रूप में अपने "जङ्गली" (?) पूर्वजों से बपौती में मिला है उसके लिए हमे गर्व है और उसी को हम अपना सौभाग्य समझते हैं और यही हमारी ढेकली का डण्डा है जिससे हम अपने राष्ट्र को उठा सकते हैं। अपने पूर्वजों के साथ अन्याय करने से कोई लाभ नहीं होगा और यह कहने से भी काम नहीं चलेगा कि उनमें राष्ट्रीय प्रेम का विचार ही न था। नहीं, वे स्वयं अपने विचारानुसार बड़े देशभक्त थे। हमारे देश का इतिहास, हिन्दुओं के दृष्टिकोण से, अभी लिखा जाना बाक़ी है। और जब तक यह न हो तब तक हम अपने निर्णय को मुलतवी रक्खे। साथ ही यह बात भी याद रक्खें कि

जिन लोगों के विषय में हम निर्णय करना चाहते हैं और कभी कभी जल्दी में हम जिनकी निन्दा करने लग जाते हैं (यद्यपि वह निन्दा बहुधा सुनी नहीं जाती), वे बड़े महान पुरुष थे और उनके विचार और उपदेश उन समस्त विचारों में सब से ऊंचे दर्जे के हैं जो आज तक संसार में लिखे गये हैं अथवा जाने गये हैं। हम लोग जो कि आज कल के अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दू हैं और जिनका यह दावा है कि हमने राष्ट्रीयता और देशभक्ति के नवीन भावों को पाश्चात्य देशों से सीखा है, हम लोगों के लिए वास्तव में यह बड़ा अच्छा होगा कि हम वैदिक साहित्य के कुछ अध्यायों का ध्यान और विचार से अध्ययन करें। मेरा यह विश्वास है कि इस अध्ययन से हमारे सामने नये विचारों का एक सुन्दर दृश्य दिखलाई देने लग जायगा। मुझे यकीन है कि इस प्रकार के अध्ययन से हम यह देखने के योग्य हो जायंगे कि बौद्ध लोगों के समय के पहले के वैदिक धर्म की कुंजी "सबके लिए सबका बलिदान" ही था। यह बात सच है कि कुछ विद्वान परन्तु ईर्षा करने वाले और दुर्मति रखने वाले और कुछ नीच तथा स्वार्थी पुरोहितों ने इस प्रकार के रीति रिवाजों, व्यवस्थाओं और विधिओं तथा नियमों और उपनियमों का आडम्बर खड़ाकर दिया था कि इन पद्धतिओं और कार्य्यक्रमों तथा, रीतिनीति की भूल भुलैयों से बाहर निकलना असम्भव था और इन्हीं नियमों

और विधिओं के जाल में धर्म का सच्चा रूप एक प्रकार से इतना लुप्त हो गया था कि वह अब किसी राष्ट्र का अवलम्बन नहीं हो सकता था।

प्राचीन हिन्दू धर्म के वास्तविक भावों को विधिवत रस्मों और दिखावटी आडम्बरों के बोझ के नीचे दबा देने ही के कारण हिन्दुओं का पतन हुआ है नकि इसलिए कि हिन्दुओं में राष्ट्रीयता के भावों का अभाव रहा है। किन्तु आप कह सकते हैं कि हम में ऐसे लोग उत्पन्न होते रहे हैं जिन्होंने सत्य और धर्म के लिए प्राण त्याग किये हैं और कोई मनुष्य बिना धार्मिक विश्वास की शक्ति की सहायता के शहीद नहीं हो सकता। तब भला वह राष्ट्र जिसमें धार्मिक विश्वास नहीं है किस प्रकार शहीदों को उत्पन्न कर सकता है? क्या कोई ऐसी जाति है जिसने हिन्दुओं से ज़्यादा अपने धर्म में, अपने अस्तित्व में और अपने पवित्र नियमों में विश्वास दिखलाया हो? तब क्या आप कोई दूसरा कारण बतला सकते हैं जिस के कारण हिन्दू लोग अपने धर्म के बाहरी रूप में इस कट्टरता से चिपके रहे हैं और अपने रीति रिवाजों को हठ से पकड़े रहे हैं। मैं जानबूझ कर यह कहता हूं कि "धर्म का बाहरी रूप" ही वास्तविक धर्म हो गया। क्योंकि बहुत समय हुआ तभी हमने उस असली धर्म को छोड़ दिया था जो किसी मनुष्य का अथवा किसी राष्ट्र का पथप्रदर्शक होता है और उसे एक विशेष

सांचे में ढालता है, जो उसे उच्च और महान बनाता है, जो उसे ऊंचे आदर्शों तक पहुंचाता है और जो उससे बडे से बडा बलिदान कराता है। बौद्ध लोगों के समय के पश्चात हृदय मन्दिर की वेदी पर उसका आवाहन कभी नहीं हुआ। यह बात बिल्कुल सत्य है कि कभी कभी शहीद लोग पैदा होते रहे हैं और बाज़ वक्त तो उनकी संख्या बहुत ही अधिक हो गई है। परन्तु जहां मैं हिन्दुओं पर विश्वास की कमी का इलज़ाम लगाता हूं, वहां मेरा मतलब व्यक्तिगत विश्वास से नहीं है किन्तु उस सामाजिक विश्वास से है जो सफलता (विजय) का जन्मदाता है, जिस विश्वास से जनसमुदाय जागृत होता है। अर्थात लोगों को अपने भविष्य में अपने ही ऊपर विश्वास होता है, और उन्हें इस बात का भी विश्वास होता है कि वे संसार में एक विशेष कार्य्य के लिए आये हैं और समय उनसे वह कार्य्य अवश्य करायेगा। इसी विश्वास के कारण वे संग्राम में आगे बढते हैं। यही विश्वास मनुष्यों के हृदय को प्रकाशमान कर देता है और इसी विश्वास के बल से वे परमात्मा की आज्ञा और मनुष्यों की भलाई के कामों को निडर होकर करते हैं। उनके हृदय में उनके धार्मिक भाव होते हैं और अपनी भावी उन्नति का आदर्श उनके सामने होता है। ऐसे ही विश्वास की कमी है जो बुद्ध के समय से हम में मौजूद है और यदि हम फिर से एक राष्ट्र बनना चाहते हैं तो

हमें ऐसे ही विश्वास की आवश्यकता है।

अब मैं मिस्टर माधोराम की कही हुई बातों पर कुछ वाद-विवाद करूंगा। और मैं आरम्भ ही में यह कह देना चाहता हूं कि यद्यपि बहस के लिए यह मान भी लिया जाय कि उन की बातें और उनका बयान बिल्कुल ठीक है और उन बातों से उन्होंने जो परिणाम निकाले हैं वे भी ठीक हैं तोभी मैं एक सिद्धान्त के मामले में उनसे भिन्न मत रखने का साहस करता हूं। मेरे योग्य मित्र यह विचार करते हुए मालूम पड़ते हैं कि ये आपस के झगड़े, फ़साद तथा साम्प्रदायिक टंटे, जिनका ज़िक्र वह अपने लेख में वृहतरूप से करते हैं, "हमारे देश में हिन्दू राष्ट्रीयता की उन्नति का अवकाश" हाथ से खो देते हैं। उनके वाक्यों को ठीक ठीक उद्धृत करने पर यह मालूम पड़ता है कि वे 'हिन्दू राष्ट्रवादी' महाशय से प्रश्न करते हैं कि उनकी वर्णित अवस्था के अनुसार क्या हमारे देश में हिन्दू राष्ट्रीयता की उन्नति का अधिक अवकाश है?" मैं इस प्रश्न का उत्तर देता हूं कि हां मौक़ा है। जिस बात के बतलाने की मुझे चिन्ता है वह यह है कि न तो ये झगड़े और टंटे हिन्दू राष्ट्रीयता के मार्ग मे रुकावट हैं और न ये इसी बात का काफ़ी प्रमाण हैं कि हिन्दुओं में राष्ट्रीयता के भाव का अभाव है। और इसका सीधा सादा कारण यह है कि राष्ट्रीयता के भाव के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके सारे सदस्य

समस्त सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक बातों में एक ही मत के हों और न उससे यही ध्वनि निकलती है कि उसके सब मेम्बरों और नेताओं मे पूरी पूरी एकता और मेलजोल हो अथवा उसके नेता उन समस्त मानुषिक कमज़ोरियों से मुक्त हों जिसके कारण वे एक दूसरे के व्यक्तित्व पर आक्रमण करते हैं और आपस में एक दूसरे के लिए कड़ी भाषा और कभी कभी गाली गलौज तक भी इस्तेमाल करते है। क्या संसार में कोई ऐसी जाति हुई है अथवा इस समय उपस्थित है जो इस प्रकार के भेदभावों और झगड़ों से मुक्त रही हो या है ? वास्तव में यह मानना पड़ेगा कि रोमन, ग्रीक और मुसलमानी इतिहास मे जातीयता और राष्ट्रीयता के बड़े सुन्दर और उच्च उदाहरण मिलते है और वर्तमान समय में अंग्रेज़, जर्मन अमरीकन और फ़रासीसी लोगों से बढ़कर जातीयता के महान आदर्श तो मिल ही नही सकते, यद्यपि कुछ और भी उतनी ही उच्च, किन्तु कम प्रभावशाली जातियां मौजूद है जैसे कि स्वीस, इटेलियन और डच। इन जातियों के इतिहास में धार्मिक और सामाजिक भेदों और अन्तरों ने विशेष भाग लिया है और यहां तक कि वे इस समय भी इन बातों से मुक्त नहीं हैं। यदि हम अंग्रेज़ी और आयर्लैंड के पत्रों पर एक साधारण दृष्टि डालें, या पार्लियामेन्ट में अथवा पार्लियामेन्ट के बाहर दिये हुये राजनीतिज्ञों के व्याख्यानों को पढ़ें या पाश्चा-

न्य देशों के भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के साहित्य का अध्ययन करें अथवा इन देशों के सार्वजनिक नेताओं के जीवन चरित को पढ़ें तो हमें तुरन्त मालूम हो जायगा कि जिन बातों का मेरे मित्र ने ज़िक्र किया है वे युरोपीय संसार के इन धुरन्धर लोगों के झगड़े तथा छिद्रानुवेषण और कभी कभी गाली गलौज तक पहुंच जाने वाले भेद भावों के सामने प्रतिष्ठा और गुरुता में कुछ भी नहीं है। असल बात तो यह है कि राष्ट्रीयता की उन्नति और स्वास्थ्यकारक वृद्धि के लिए सच्चे भेदों और वादाविवादों का होना तथा सार्वजनिक नेताओं की अन्य सार्वजनिक नेताओं द्वारा समालोचना किया जाना, परमावश्यक है। इसलिए इन वादाविवादों और कटाक्षों में मानुषिक कमज़ोरियों, पक्षपातों, ईर्षाद्वेषों, व्यक्तिगत आक्षेपों, इशारों और बगलीघूसों तथा कटु भाषा आदि का आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमें इसका सामना करने के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। यदि ये बातें एक विशेष दर्जे और सीमा से बढ़ जायेंगी तो वे राष्ट्रीयता की बाढ़ को रोक देंगी अथवा राष्ट्रीयता की पूर्ण रूप से बनी हुई इमारत को ढा देंगी। मैं इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हूं कि वर्तमान समय में पढ़े लिखे हिन्दुओं की भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के आपस के भेदभाव और झगड़े उस सीमा से बढ़ गये हैं। यह बात मान लेना बिल्कुल ग़लत है कि जातीयता या राष्ट्री-

यता के भाव के लिए यह आवश्यक है कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन की ज़रा ज़रा सी बातों में सब लोग पूर्ण रीति से सहमत हो अथवा यह ज़रूरी है कि साम्प्रदायिक झगड़ों और बखेड़ों तथा आपस के ईर्षाद्वेष से लोग बिल्कुल मुक्त हो। इस प्रकार की आशा करना एक असम्भव बात की आशा करना है और इससे प्रगट होता है कि हम मनुष्य स्वभाव से बिल्कुल अनभिज्ञ है। मेरी नम्र सम्मति मे राष्ट्रीयता की वृद्धि के लिए यह काफ़ी है कि जो भिन्न भिन्न भाग उसकी शरण में रहते हैं वे इस प्रकार की ऐक्यता का ध्यान बनाये रक्खें जो उन्हे सामान्य शत्रु के सामने और सामान्य जोखिम मे एक मत बनाने के लिए पर्याप्त हो। धर्म के कुछ मूल सिद्धान्तों को मानते हुए, एक पवित्र भाषा के तत्व का समझते हुए और अपने लाभों के समूह को ध्यान में रखते हुए हिन्दुओं को अपने उस प्रकार के जातीय भावों की उन्नति और वृद्धि करनी चाहिए जो काफ़ी तौर से इतने मज़बूत हों कि वे उन्हे इस योग्य बनादें कि लोग भिन्न भिन्न मार्गों से और अपनी अपनी योग्यतानुसार सब की भलाई के लिए कार्य्य कर सकें। हमें अपने सामने एक ही आदर्श रखना चाहिए। हमारा आदर्श इतना उच्च हो कि उस में सबके लिए स्थान हो, इतना उदार और विस्तृत हो कि सब कोई उसमें सम्मिलित हो सके। जो लोग एक ही सामान्य

नाम में, एक ही सामान्य पैतृकता में, एक ही सामान्य इतिहास में, एक ही सामान्य धर्म में, एक ही सामान्य भाषा में और एक ही सामान्य भविष्य में गर्व कर सकते हैं, सब के सब उसमें भाग ले सकें।

यदि हम समस्त धार्मिक और सामाजिक मामलों में शांति बनाये रक्खेंगे और उनमें कोई छेड़छाड़ न पैदा करेंगे तथा यह निश्चय कर लेंगे कि उन्हें चुपचाप जैसा का तैसा पड़ा रहने देना चाहिए, तो हम राष्ट्रीयता के कार्य्य को एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ायेंगे। इस प्रकार की मनोगति का अर्थ यह होगा कि हमारी बाढ़ रुक गई और धीरे धीरे हमारा नाश हो जायगा। हमें आन्दोलन अवश्य करना चाहिए, आपस में भी और बाहर वालों से भी। सत्य और असत्य में, भलाई और बुराई में, ईमानदारी और बेईमानी में, समय से लाभ उठाने वाली मनोवृत्ति और धर्माचरण में, आलस्य और परिश्रम में, उत्साह और मन्दता में, स्वार्थ और उच्च निस्स्वार्थ में, संघर्षण होना आवश्यक है। बिना इस प्रकार के संग्राम के कोई जाति कभी महान और प्रभावशाली होने की आशा नहीं कर सकती। हमने तो अभी इस संग्राम को केवल आरम्भ ही किया है। हमने बन्धन से बाहर अभी सिर ही निकाला है और इसी लिए कोई आश्चर्य नहीं है कि हम कभी कभी सभ्यता की सीमा से बढ़ जाते हैं और बिना रोक टोक के साम्प्रदायिक और

व्यक्तिगत बातों में आवश्यकता से अधिक पड़ जाते हैं। किन्तु जातीय अवगुण और दुर्बलताएं एक दिन में दूर नहीं होतीं और न एक दिन में उनका इलाज हो सकता है। हमें उन बातों से असन्तुष्ट न होना चाहिए जो मेरी राय में वृद्धि का एक स्वास्थ्यकारक चिन्ह मालूम पड़ती है। उसके अरुचिकारी संयोगों की प्रशंसा करके अथवा उसको अनुचित महत्व दिखला कर हमें उसका गला न घोंट देना चाहिए। समस्त धार्मिक और सामाजिक सार्वजनिक संस्थाओं में हर प्रकार के मनुष्य होते है। क्योंकि हमारी सार्वजनिक संस्थाओं मे कुछ अत्याचारी लोग हैं, कुछ दुष्ट स्वभाव के लोग है, कुछ अप्रामाणिक लोग हैं, कुछ विश्वासघाती लोग हैं और कुछ समयोपासक लोग हैं, किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि हम समस्त सार्वजनिक संस्थाओं की निन्दा करने लगें और उन सबसे निराश हो जायं। इस देश में अभी सार्वजनिक सम्मति की उन्नति होना बाक़ी है। अभी यह एक बहुत कोमल पौधा है। उसकी बाढ़ में बहुत से अरुचिकारी लड़ाई और झगड़े होंगे। हमें इससे असन्तुष्ट न होना चाहिए। अभी देश में शान्ति के साथ निःस्वार्थ भाव से और बिना डर के समालोचना करने की आदत उत्पन्न करने की बड़ी आवश्यकता है। इस देश में ऐसे बहुत कम लोग हैं जो केवल सार्वजनिक लाभों ही का ख़्याल करके कार्य्य करते हों।

किन्तु इस प्रकार के आदमी तो और भी कम हैं जो ऐसे कामों में रुचि रखते हों जिनमें उनका कोई निजी स्वार्थ न हो और जिनमें उन्हें कुछ जोखिम उठाना पड़े। दूसरों के हित का ध्यान करके कार्य्य करने का उत्साह उनमें नहीं उत्पन्न होता। जो कुछ थोड़ी बहुत समालोचना देश में वर्तमान है उसके विषय में कहा जाता है कि वह साम्प्रदायिक है, स्वार्थपूर्ण है, अथवा ईर्षा-द्वेष से भरी हुई है और व्यक्तिगत शत्रुता का परिणाम है। यह समालोचना, एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसके द्वारा बड़े बड़े और शक्तिशाली लोगों की स्वार्थपूर्ण और नीच भावनायें प्रभावोत्पादक रूप से रोकी जा सकती हैं। इसको हतोत्साहित करना और इसका गला घोटना ठीक नहीं है। हमारा उद्देश्य यह न होना चाहिए कि हम समालोचना को बिल्कुल बन्द करदें किन्तु उसमें से व्यक्तिगत बातों को, ईर्षा-द्वेष को, नीचता को और गाली गलौज को निकाल कर उसे पवित्र बनादें। ऐसा करने मे कुछ समय लगेगा। परन्तु जब तक ऐसा न हो हमें हर प्रकार की आलोचना को हतोत्साहित न करना चाहिए और न उसको निन्दा करके उसे बिल्कुल उठा ही देना चाहिए। कम से कम मेरी राय मे आपस की आलोचना पर असन्तोष प्रगट करना और उसे बिल्कुल बन्द कर देना अथवा हर प्रकार के वादाविवाद को उठा देने का यह अर्थ न होगा कि लोगों में एकता हो जावे या राष्ट्रीयता

की स्वास्थ्यकारी उन्नति हो। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार "हिन्दू राष्ट्रवादी" महाशय के आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। मेरा विचार है कि उन्होंने हमारे प्राचीन इतिहास को ग़लत दृष्टि से देखा है। मैंने अपनी सम्मति में पण्डित माधाराम के आक्षेपों का भी उत्तर दे दिया है। उन्होंने जिन बातों का वृहत रूप से वर्णन किया है और उससे भ्रमोत्पादक परिणाम निकाले हैं उनकी सत्यता को मैंने केवल वादाविवाद की गरज से मान लिया है। मैं यहां इस लेख को समाप्त करता हूं और आशा करता हूं कि फिर कभी इस विषय पर चर्चा करूंगा और हिन्दू राष्ट्रीयता की वर्तमान दशा और उसके भविष्य पर विचार करूंगा। साथ ही उसकी उन्नति का प्रमाण दूंगा और उसकी भावी वृद्धि के सुयोग बतलाने का प्रयत्न करूंगा।

भारत में साम्पत्तिक और शिल्प-सम्बन्धी आन्दोलन।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे देश का साम्पत्तिक भविष्य विशेषतया सम्मिलित-व्यवसाय-प्रथा के प्रचार और उसको सफलता के साथ काम में लाने पर निर्भर है। सौभाग्य से भारतवर्ष में बहुत से ऐसे प्राकृतिक साधन हैं जिन से मन-माना कच्चा माल उत्पन्न हो सकता है। भारत की जन-संख्या भी बहुत है और वह दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है। इस जन-समूह के लिए काम की भी आवश्यकता है। यदि भारत के पास केवल आवश्यक धन और अत्यावश्यक योग्यता हो तो वह शिल्पकला में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले फल पैदा कर सकता है। मनोहारी योग्यता की तो उसमें विपुलता है; परन्तु कमी केवल इस बात की है कि न तो उसमें आधुनिक विज्ञान से सहायता लेने की शक्ति है और न तमीज़। अपने हुनरों को सुन्दर बनाने के लिए वह वर्तमान कल पुर्जों को काम में नहीं लाता और अपने हुनर की वस्तुओं को, अधिकता के साथ और कम मूल्य में, नहीं उत्पन्न करता। योग्य हिन्दुस्तानियों को इस प्रकार का हुनर प्राप्त करने के लिए सुगमता करने के हेतु अब तक बहुत थोड़ा प्रयत्न हुआ है। साधारण कालेजों द्वारा आधुनिक विज्ञान की

केवल सिद्धान्तिक और प्रारम्भिक शिक्षा के प्राप्त करने की कुछ सुविधाएं देने के अलावा गवर्नमेण्ट ने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया है कि वह भारतीय युवकों को इस योग्य बनावे अथवा उन्हें उत्साहित करे कि वे किसी से अच्छी तरह कला-कौशल सीखलें जिससे भारतीय शिल्प-कला की उन्नति हो सके। शायद अंग्रेज़ों ने यह सोचा हो कि वे ऐसा कोई काम न करें जिससे अन्त में अंग्रेज़ी माल के लिए भारतीय बाजार बन्द हो जाय। यदि ऐसा था तो उन्होंने पहिले से यह नहीं सोचा कि स्वतन्त्र व्यवसाय के सिद्धान्त से तो अंग्रेज़ी माल भारतीय बाज़ार से उन देशों के माल के मुक़ाबिले में अवश्य ही निकाल दिया जायगा जिनके प्राकृतिक साधन और जिनकी आवादी अंग्रेज़ी टापुओं से बेहतर हालत में हैं। इस प्रकार इनकी भूल से केवल भारत ही का नुक़सान नहीं हुआ है किन्तु ग्रेट-ब्रिटेन का भी कोई स्थायी फ़ायदा नहीं हुआ है। क्या यह बात नहीं है कि जर्मनी, अमेरिका, फ्रांस और जापान के सस्ते माल के द्वारा अंग्रेज़ी माल बाज़ारों से निकाल बाहर किया जा रहा है? यदि गवर्नमेण्ट ने अपनी ओर से इस मामले में कोई कार्रवाई नहीं की तो हम हिन्दुस्तानियों ने भी ऐसी सुविधाएं नहीं कर दीं जिनसे हमारे युवक कला कौशल का ज्ञान प्राप्त कर सकते। और इसका मूल कारण यह था कि न तो हम में इतनी दूरन्देशी ही थी और न सङ्गठन-शक्ति

हों। चाहिए तो यह था कि हम घोड़े को गाड़ी में जोतते, किन्तु बजाय इसके हम सदा गाड़ी के पीछे ही घोड़े को बांधते रहे। जो कुछ थोड़े बहुत साधन हमारे पास थे उन्हें हमको अपने देशवासियों को इस योग्य बनाने में लगा देना चाहिए था कि वे कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करके अपने देश को विदेशियों की लूट से बचा लेते। किन्तु राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के व्यर्थ के आन्दोलन में हम अपना लाखों रुपया ख़र्च करते रहे हैं। यह बात कभी हमारे ध्यान ही में नहीं आई कि इस विज्ञान और मशीन के युग में वह जाति न तो कभी बड़ी हो सकती है और न स्वतन्त्र, जो सम्पत्तिशास्त्र और कला-कौशल में कङ्गाल है। परमात्मा का शुक्र है कि अपनी बहुत सी शक्ति व्यर्थ ख़र्च करने के बाद हमें इस सम्बन्ध में अपने कर्तव्य का ध्यान हो गया है और चारों ओर से कला-कौशल तथा उद्योग-धन्धों की शिक्षा की मांग हो रही है। किन्तु जो लोग कला-कौशल की शिक्षा के लिए चिल्ला रहे हैं और उसके लिए कुछ ख़र्च करने और त्याग करने के लिए भी तैयार हैं, उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जो यह बात ठीक ठीक जानते हैं कि कला-कौशल की शिक्षा किसे कहते हैं और वह किस प्रकार इस देश में प्रचलित की जा सकती है।

इसीलिए यह आन्दोलन, कुशल ज्ञान की कमी के कारण, हानि उठा रहा है। हमारे जोश और हलचल से इस हानि को

पूर्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि हम दिल से इस बात का पूर्ण उद्योग न करें कि जिससे भारतीय युवकों के लिए इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के साधन उत्पन्न हो जायं।

ऐसी बहुत सी कलाएं हैं जिनको बड़ी से बड़ी उन्नति हो सकती है यदि उनको चलाने के लिए हमारे पास विशेष ज्ञान हो। इसलिए सब से पहली बात जिसकी हमें आवश्यकता है वह यह है कि हम भारतीय युवकों को युरोप और अमेरिका मे विशेषज्ञ होने के लिए भेजें। प्रत्येक प्रान्त को चाहिए कि वह प्रत्येक वर्ष एक युवक को किसी ख़ास उद्योग सीखने के लिए भेजे। वह विद्यार्थी उस उद्योग की पूरी पूरी जानकारी प्राप्त करे और उसको सफलता के साथ चलाना भी सीखले। इसी कार्य्य को जापान ने अपनी गवर्नमेन्ट के द्वारा किया है क्योंकि वहां की सरकार और उस देश की जनता में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु भारतवर्ष का मामला दूसरा है। जो बात जापान में सरकार द्वारा की गई है वही बात इस देश की जनता को स्वयं अपने आप करनी होगी।

औद्योगिक उन्नति के लिए दूसरा मुख्य अङ्ग पूंजी है। जो पूंजी-पति और करोड़पति सम्मिलित-व्यवसाय प्रथा के सिद्धा-न्तों को मान कर एक साथ इकट्ठी पूंजी लगाते हैं उनके सामने किसी एक व्यक्ति की पूंजी बिल्कुल शक्तिहीन है।

धनी लोग अपना धन उद्योग-धन्धों और कल कारख़ानों

में लगा कर बहुत कुछ कर सकते हैं और अपने निजी साधनों से उन्हें चला भी सकते है परन्तु सम्मिलित व्यवसाय का मुक़ाबिला उसी प्रकार के सम्मेलन से किया जा सकता है और यदि इन सम्मेलनों को सफल होना है तो इनका सङ्गठन पक्के सिद्धान्तों पर होना चाहिए। जिन लोगों के हाथों में इन कामों की बाग-डोर हो उन पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। यह विश्वास तभी उत्पन्न हो सकता है जब कि सञ्चालक लोग स्वयं धनवान हो और जिस काम को वे चलाते हों उसमें उन की भी काफ़ी जोखिम हो और उनकी ईमानदारी तथा उद्देश्य म किसी को भी सन्देह न हो। सम्मिलित व्यवसाय-प्रथा भारतवर्ष मे अभी बड़ी कोमल अवस्था की बालिका है, यह पौधा विदेश से लाकर यहां लगाया गया है। इसके जमने और जड़ पकड़ने में अभी कुछ समय लगेगा तब कहीं उसमें फल लगेंगे। इसलिए इसकी देखभाल करने की बड़ी आवश्यकता है और इसको फलदायक बनाने के लिए बड़े ध्यान की ज़रूरत है। उद्योग-धन्धो के शुभचिन्तकों से इस बात के कहने की आवश्यकता नही कि इस देश के लोग कितने शक्की और सुस्त हैं।

यदि किसी व्यवसाय में हमने उन्नति नहीं की तो इसका मुख्य कारण यह है कि हम में एक दूसरे का विश्वास करने की कमी है और हम सम्मिलित भलाई के लिए मिलकर काम

करना नहीं चाहते। इसलिए यह परमावश्यक है कि इस देश ने कम्पनियों को चलाने का काम अविश्वास से बिल्कुल परे हो। कम्पनी चलाने के नाम से किसी व्यक्तिगत सट्टेबाजी को कदापि उत्साहित न करना चाहिए। अंग्रेज़ी कम्पनी चलाने वाले, जिनके विषय में अभी हाल ही में हम लोगों ने अंग्रेज़ी अखबारों मे बहुत कुछ पढा है, उन हिन्दुस्तानियों के विश्वास का दुरुपयोग कदापि न पाये जो सम्मिलित व्यवसाय-प्रथा का प्रचलित होने का पूरा पूरा मौक़ा देना चाहते हैं। यदि एकबार भी उन्हे धोखा दिया गया तो वे फिर कभी मैदान में न उतरेंगे। किन्तु साथ ही हमें उन हिन्दुस्तानी कम्पनी चलाने वालों से भी सचेत रहना चाहिए (यदि कोई हो तो) जो अपने अंग्रेज़ी साथियों की नक़ल करना चाहते हों और उन लोगो को नुक़सान पहुंचाकर कम्पनी बनाने को ही अपना पेशा बना रक्खा हो जो अपनी गाढ़ी कमाई का कुछ हिस्सा अथवा अपना सर्वस्व ऐसे कामों में लगाना चाहते हों जिनसे स्वयं उनको और उनके देश को लाभ होने की सम्भावना हो।

भारतीय हिस्सेदार बहुधा सोने वाले हिस्सेदार होते हैं और उनकी यह आदत होती है कि वे व्यवसाय का सारा कारबार उन्हीं लोगों पर छोड़ देते हैं जिनका नाम और यश सुनकर उन्होंने हिस्से ख़रीदने वाले कागज़ पर दस्तखत किये थे। वे स्वयं देखभाल करने के अयोग्य होते है और इसीलिए

सारा काम मैनेजरों पर छोड़ देते हैं। यदि उन्हें यह मालूम होता है कि उन्होंने ग़लती से लोगों पर विश्वास किया था तो सिवाय अपना भाग्य कोसने के वे और कुछ नहीं करते। जिन लोगों ने उनके रुपये का दुरुपयोग किया है उन्हें उनके काम की ठीक ठीक सज़ा दिलाने के लिए और इस प्रकार दूसरों को ऐसी बेईमानी और दग़ाबाज़ी से रोकने के लिए वे कोई भी प्रयत्न नहीं करते। जनता की भलाई अथवा देश के हित के लिए तो वे और भी कम उत्साहित होते हैं। ऐसी अवस्था में व्यवसाय के शुभचिन्तक इस प्रकार की कम्पनी बनाने वालों की ओर जितने अधिक सतर्क रहें उतनाही थोड़ा है। स्वयं इङ्गलैण्ड में इस प्रकार की आवाज़ उठाई गई है कि वर्तमान क़ानून ऐसे नहीं हैं कि वे मक्कार और तेज़ डाइरेक्टरों के फन्दे से हिस्सेदारों को पूरी तौर से बचा सकें। एक लेखक जून सन १९०१ के कन्टेम्पारेरी रिव्यू में इङ्गलिस्तान की आर्थिक अवनति के कारण दिखलाते हुए वहां के कम्पनी-क़ानून के विषय में लिखता है कि मक्कार कम्पनी बनाने वालों, सट्टेबाज़ों और दलालों के लिए हमारे कम्पनी-क़ानून बड़े अच्छे हैं, इनके द्वारा उन लोगों को जाति की बचाई हुई रक़म को हज़म करने का ख़ूब मौक़ा मिलता है। उसने बहुत से अङ्क दिये हैं जिनसे पता चलता है कि सन् १८९२ और १८९९ ई० के बीच में जिन कम्पनियों का दिवाला निकला है उनमें

३४ मिलियन से लेकर ७७ मिलियन पौण्ड तक धन था।* जिन कम्पनियों का दिवाला निकला था उनके इन्सपेक्टर जनरल ने जो वाक्य कहे थे उन्हे वह लेखक इस प्रकार उद्धृत करता है:—"सन् १८६६ में जिन कम्पनियों का दिवाला निकला अथवा जो आरम्भ होते ही समाप्त हो गयीं और वे नई कम्पनियां जो रजिस्टर्ड की गयीं उन दोनों की निस्वत ६० फ़ी सदी थी।" इसी बात को विस्तृतरूप से समझाने के लिए उसने मानों ये वाक्य कहे हैं:—"लगभग ३७ फ़ी सदी पूंजी क़रीब २ शराफ़ लोगों की लगी हुई है और बाक़ी तीन चौथाई अर्थात् ६३ फ़ी सदी पूंजी दिवालियों की।"

उपरोक्त शब्द हमारे हैं। इस नींव पर लेखक स्वयं अपने सारगर्भित विचार इस भांति लिखता है:—

"कुछ वर्षों में कम ख़र्च करने वाली प्रजा के सैकड़ों पौंड लूट लिये गये हैं जिन्हें लाखों अंग्रेज़ी मज़दूरों ने अपनी सारी ज़िन्दगी में सब्र की मेहनत के साथ कमाया था। परन्तु उन कम्पनी बनाने वालों या उनके साथियों में से एक को भी सख़्त क़ैद की सज़ा नहीं मिली जिन्होंने जाति के साथ इस प्रकार की भयङ्कर धोखेबाज़ी की। नये कम्पनी-क़ानूनों से शङ्का करने वाली जनता की रक्षा नहीं होती किन्तु उससे तो उलटे कम्पनी बनाने वालों और उनके साथियों ही की रक्षा होती

---

*एक मिलियन बराबर १० लाख। लेखक।

है। यह क़ानून तो निबलों के विपक्ष में सबलों ही की सहायता करता है।

इस प्रकार की धोखेबाज़ी करना और सज़ा पाने से बच जाने के ही कारण धोखा देने वाली कम्पनियों का प्रचार दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। इस बढ़ती के कारण और भी हैं। एक तो किसी उपजाऊ उद्योग द्वारा ईमानदारी से अपनी जीविका कमाने में कठिनता का सामना करना पड़ता है और दूसरे वर्तमान कम्पनी-क़ानूनों की आड़ में धोखा देने की बड़ी सुविधा है।"

भारतीय क़ानून अंग्रेज़ी कम्पनी-क़ानूनों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। वास्तव में वे क़रीब क़रीब उनकी नक़ल ही हैं। यहां भी बड़ी शीघ्रता के साथ कम्पनियां बनाई जा रही हैं और कुछ दिन चलाकर बन्द कर दी जाती हैं अथवा बेच दी जाती हैं जिनसे कि हिस्सेदारों को बहुत नुक़सान उठाना पड़ता है। इस अवस्था को देखकर हमें डर मालूम देता है कि यदि कुछ साल तक यही हाल रहा तो हमें भी उस प्रकार की कड़ाई करना पड़ेगी जैसा ऊपर उद्धृत किये हुए वाक्य में इङ्गलैण्ड के कम्पनी चलाने वाले पेशावरों के विषय में लिखा गया है। हमें आशा रखना चाहिए कि इस प्रकार की शिकायत करने का मौक़ा हमें शीघ्र ही न प्राप्त होगा। यद्यपि कुछ ऐसे चिह्न दिखलाई दे रहे हैं जिनसे हमें भयङ्कर शङ्कायें होती हैं।

एक चीनी देशभक्त बालिका।

इस लेख में लाला लाजपतराय और एक चीनी बालिका के प्रश्न और उत्तर लिखे जाते हैं। चीनी लड़की लन्दन मे विद्योपार्जन के लिए गई हुई थी। वहीं लाला जी से उसकी मुलाक़ात हो गई। पहला प्रश्न लाला जी ने जो किया वह यह था कि "वह इङ्गलिस्तान क्यों आई है?" उसने उत्तर दिया- 'विद्योपार्जन के लिए।'

लाला जी ने फिर पूछा—किस व्यवसाय के लिए? उसने उत्तर दिया—'अपने देश की सेवा के लिए।' उसके उत्तर से यह प्रतीत होता था कि उसने अपना सारा जीवन देश-सेवा के लिए दे दिया है। उसने फिर कहा—'हम लोगो में दग़ाबाज़ बहुत हैं किन्तु वास्तविक देशोद्धार करने वाले बहुत कम। मैंने अपना जीवन अपने देश की स्त्रियों के सुधार के लिए प्रदान कर दिया है।'

अन्य प्रश्नो के पश्चात् लाला जी ने उसके धर्म के विषय में पूछा। थोड़ा ही समय हुआ कि उसने बौद्ध-धर्म को छोड़ कर ईसाई मत स्वीकार कर लिया था फिर भी उसके माता-पिता उसे पढ़ाने के लिए ख़र्चा देते थे। लाला जी ने पूछा— 'आप ने अपना धर्म क्यों छोड़ दिया?' उत्तर में उसने तीन कारण बताये, जिनसे उसकी देशभक्ति पराकाष्ठा तक पहुंची

हुई मालूम होती थी। पहिला कारण यह था कि वह चीन देश की ईसाई महिलाओं में राष्ट्रीयता की शिक्षा का सञ्चार करना चाहती है। उसके विचारानुसार चीन की ईसाई स्त्रियों में देश-भक्ति की कमी है, इसलिए उनके मध्य में एक पक्के और अटल देशभक्त की आवश्यकता है जिसका कि अनुकरण वे सरलता से कर लें। ईसाई होने के कारण वे चीन को अपना देश नहीं समझती हैं।

दूसरा कारण भी इसी प्रकार का था। उसका कहना था कि ईसाई मत की तरक्की होना चीन में अनिवार्य्य है और इस हालत में यह उसका परम कर्तव्य होगा कि वह उनको देशभक्त बनावे। इसके पश्चात लाला जी ने उससे पूछा—'इन दोनों कारणों के अतिरिक्त और भी कोई बात है जिससे तुमने अपना धर्म छोड़ दिया ?' उसने कहा—हां, मुझको एक धर्म की आवश्यकता थी, क्योंकि मेरे विचारानुसार बग़ैर किसी धर्म का आश्रय लिए मनुष्य अपने सिद्धान्तों का यथोचित रूप से पालन नहीं कर सकता है। चीन का अनुचित धर्म मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। अतः मैंने ईसाई मत स्वीकार कर लिया। लाला जी ने फिर प्रश्न किया—'क्या तुमने अपना धर्म पहिले अच्छी तरह पढ़ कर समझ लिया था ?' उत्तर में उसने कहा—'हम लोगों का कोई ख़ास धर्म नहीं है। कान्फ्युरास की शिक्षाओं में कोई विशेष धर्म नहीं

निकलता है।' फिर लाला जी ने कहा कि 'चीन में बौद्ध धर्म का तो ख़ासा प्रचार है।' लड़की ने उत्तर दिया, बौद्ध धर्म मुझको बहुत कठिन मालूम होता है। लाला जी ने फिर पूछा-ईसाई मत में क्या ख़बी है ? उसने तुरन्त ही उत्तर दिया—"आशा की उपस्थिति।" लाला जी ने फिर पूछा—"क्या चीन के धर्मों में आशा नही है ?" उसने कहा—"नही, बौद्ध-धर्म भी अपने वास्तविक सिद्धान्तों को भूलकर मूर्तिपूजा ही को सब कुछ समझने लगा है।" लाला जी ने फिर पूछा—"ईसाई धर्म मे आपका आना कैसे हुआ ?" उसने कहा—"मैं ईसाई स्कूल में पढ़ती थी।"

लाला जी ने पूछा—"क्या बाइबिल की अक्षरशः सत्यता पर तुम्हारा विश्वास है ? मेरी के क्वांरी होते हुए भी ईसा की माता होने में तुम्हें कुछ सन्देह नहीं ?"

उसने उत्तर दिया—"मुझे विश्वास नही कि बाइबिल का प्रत्येक शब्द ईश्वर का वाक्य है। न ईसू को ईश्वर का पुत्र मानने की पुष्टि के लिए यही आवश्यक है कि हम मेरी के क्वांरेपन मे सन्देह न करे। हरएक मनुष्य ईश्वर का पुत्र कहा जा सकता है।"

लाला जी ने कहा—"तुम्हारा ईसाई-धर्म बिल्कुल सरल और सीधा है। तुम्हारे अनुसार कोई भी अपना धर्म बग़ैर छोड़े ईसाई हो सकता है।"

लाला जी ने फिर उससे चीनी स्त्रियों के विषय में पूछा। इसने उत्तर दिया 'चीन में परदा नहीं है, किन्तु स्त्रियों को इङ्गलैण्ड की स्त्रियों की तरह स्वाधीनता नहीं है। चीनी कन्या अपने कुटुम्बियों के समक्ष भी किसी दूसरे मनुष्य से बात चीत नहीं कर सकती है, अकेले की तो बात ही दूसरी है। चीन में लड़कियों का विवाह २० वर्ष की अवस्था में होता है। बड़े घरों में दूल्हा एक वर्ष अधिक बड़ा होता है, किन्तु अधिक तर उनकी अवस्था में कोई विशेष अन्तर नहीं रहता।'

लाला जी ने पूछा—"क्या चीनी लड़कियां अधिकांश में पढ़ी होती हैं?" उसने उत्तर दिया "वे केवल चिट्ठी-पत्री लिख सकती हैं; किन्तु अब वे अधिक शिक्षा पा रही हैं। फिर भी, चीनी लोगों को गृहस्थाश्रम में कुछ सुख नहीं है, यद्यपि चीनी स्त्रियां कुमार्गिणी नहीं होतीं।"

लाला जी ने फिर पूछा—"तुम्हारा अंग्रेज़ी लड़कियों के विषय में क्या विचार है?" उसने उत्तर दिया—"उनमें लड़कपन ज़्यादा है। जीवन के सुख से वे बहुत प्रेम रखती हैं। अंग्रेज़ लोग सारे संसार में अपना राज्य जमाये हैं, इसी से सुख की इच्छा होना उनमें अनिवार्य्य है। उनको किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता है, किन्तु हम लोगों (एशिया वालों) को अपने भविष्य के सुधारने के लिए बड़ा यत्न करना पड़ता है। इसलिए, हमको सुख की चिन्ता

का इतना अवकाश नहीं मिलता है।

लाला जी ने पूछा—"क्या तुमको अंग्रेज़ी कपड़े पसन्द हैं?" उसने उत्तर दिया—"जब तक मैं इङ्गलिस्तान में हूं, तब तक मैं अंग्रेज़ी कपड़े पहनूंगी, किन्तु अपने देश जाकर मैं फिर अपने कपड़े पहनने लगूंगी। दूसरों के कपड़े पहनने से मनुष्य अपने देश की पृथकता नाश कर देता है। जापान ने भी पहले अंग्रेज़ी कपड़े पहनना आरम्भ कर दिया था; किन्तु अब वे धीरे धीरे अपने देश का ड्रेस पहनने लगे हैं।"

लाला जी ने पूछा—"क्या तुम समझती हो कि सारा चीन ईसाई हो जायगा?" उसने उत्तर दिया—"ईसाई-धर्म चीन में ख़ूब बढ़ेगा किन्तु सब लोग उसे स्वीकार न करेंगे।"

लाला जी ने फिर पूछा—"पश्चिमी लोग चीनों को इतना क्यों डरते हैं?" उसने उत्तर दिया—"चीनी लोग बड़े परिश्रमी हैं और पश्चिमी लोग उनका मुक़ाबिला नहीं कर सकते हैं। जहां जहां वे जाते हैं वे चीनी नौकरों से परिश्रम का काम लेते हैं, किन्तु जब चीनी लोग स्वयं स्वतन्त्र बन बैठते हैं तो वे उनको निकालने का यत्न करते हैं।"

यह चीनी बालिका बड़ी सुन्दर और विदुषी थी। यह इङ्गलिश ख़ूब फुरती के साथ बोलती थी। उसके बोलने में यह बहुत कम मालूम होता था कि वह विदेशी भाषा में बात चीत कर रही है।*

---

*अनुवादक श्रीयुत सद्गुरुशरण अवस्थी।

समाज, सनातन धर्म समाज, अन्जुमन इस्लामिया, देव समाज, अहमदिया समाज) ने अपनी अपनी संस्था स्थिर रखने के लिए ऐसी घुड़दौड़ लगाई कि ये संस्थायें अन्त में उनके गले का हार बन गईं।

हर एक समाज ने अपनी संस्था को अपना 'कावा' बनाया। जिस देश और जिस जाति की सेवा के लिए ये संस्थायें क़ायम की गई थीं, उसके हानि लाभ को संस्था के हानि लाभ पर निसार किया गया। परस्पर ईर्षा-द्वेष और छल-कपट की आग को ऐसा भड़काया गया कि अंग्रेज़ी अफ़सरों को इन संस्थाओं को एक दूसरे से अलग रखने के पर्याप्त अवसर हाथ आये और उन्होंने इन अवसरों से भरपूर लाभ उठाया। प्रति-द्वंदिता की इस आग ने पञ्जाब में राजनैतिक जीवन की नीव को जमने न दिया। हिन्दू सभा और मुसलिम लीग की पार-स्परिक चढ़ाऊपरी के कारण राष्ट्रीयता को कभी सफलता न मिली। जो लोग राजनैतिक जीवन के अनुयायी थे उनको शत्रुता का केन्द्र बनाया गया। सार्वजनिक जीवन में तो खुशामद, चापलूसी, चुग़लख़ोरी, जाजूसी, मक्कारी, स्वार्थपरता और घमण्ड ने ऐसा प्रभाव जमाया कि पञ्जाब का शिक्षित समाज इस आग में जलकर ख़ाक हो गया।

हमने पञ्जाब के दुर्भाग्य के कारण ढूंढने में पञ्जाबी अफ़-सरों की ज्यादती की उपेक्षा करके सब से प्रथम अपने देश

भाइयों पर ही दोषारोपण इसलिए किया है कि हमारी राय में जो पुरुष अपनी नैतिक-निर्बलता या फूट से दूसरे पुरुष को अपने ऊपर ज्यादती करने की आज्ञा देता है या उसको ज्यादती करने का अवसर देता है अथवा ज्यादती करने के लिए उसका हौसला बढ़ाता है वह उस ज्यादती के लिए उसी प्रकार उत्तरदायी है जिस प्रकार कि ज्यादती करने वाला। सर माइकेल ओडायर को पञ्जाब पर ज़ुल्मसितम ढाने का हौसला न होता, यदि उनको इस बात का विश्वास न होता कि पञ्जाब का सार्वजनिक जीवन इतना जीर्ण-शीर्ण है कि उस पर अधिक से अधिक ज्यादती की जा सकती है। सन् १९०७ ई० मे, सन् १९१० ई० मे और उसके पश्चात् सन् १९१४ ई० मे यदि पञ्जाब का शिक्षित समाज अपना बोदापन प्रगट न करता तो आज उसको यह दिन देखना नसीब न होता जिस पर आज चारो ओर से आह सुनाई पडती है। हमारी इस दुर्दशा के उत्तरदायी वे अदूरदर्शी नेता है जिन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को दृष्टि मे रख कर हिन्दू-मुसलमान मे अनैक्य का बीजारोपण किया और फिर रईसो का अनुसरण करके अपनी स्वाधीनता को मिट्टी मे मिला दिया।

पञ्जाब में जो साम्पत्तिक हलचल सन् १९१३ मे घटित हुई उसकी नीव भी इसी फूट के कारण जमी। गत वर्ष जो बिजली हमारी आशा-लता पर पड़ी उसका कारण भी अनैक्य के

सिवाय और कुछ न था।

मेरी इस नुकताचीनी का यह अर्थ नहीं है कि मैं पञ्जाब गवर्नमेन्ट को निर्दोष मानता हूं। नहीं, पञ्जाब में जो कुछ हुआ वह सर माइकेल ओडायर के अत्याचारपूर्ण शासन का फल है। सर माइकेल पञ्जाब को शेष भारतवर्ष के सार्वजनिक जीवन से पृथक रखना चाहते थे। जिन नेताओं ने इसके विरोध में अपना स्वर ऊंचा किया उनके हक़ में उन्होंने कुछ उठा न रक्खा। प्रकृति ने उनको निर्दयता का पुतला बनाया है। यही कारण है कि वे पञ्जाब की जागृति सहन न कर सके। उन्होंने पञ्जाब के नेताओं को पञ्जाब निवासियों के समक्ष ऐसा नीचा दिखाया कि जिससे पञ्जाब का सार्वजनिक जीवन कुछ दिनों के लिए लुप्त सा हो गया। यदि सर माइकेल ओडायर दूरदर्शी तथा अनुभवशील व्यक्ति होते तो वे समझते कि असन्तोष को यदि प्रगट करने का अवसर न दिया जायगा तो क्या आश्चर्य कि वह मवाद की सूरत में बदल कर सारे सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को विषाक्त कर दे।

सन् १६०७ का आन्दोलन नितान्त नियमबद्ध और विधि-विहित था। यदि उसको अन्यायपूर्ण अत्याचार से दबाया न जाता तो वह उपनिवेष सम्बन्धी क़ानून के साथ ही साथ समाप्त हो जाता। परन्तु उस अवसर पर भी लोगों को उस आन्दोलन के कारण ऐसा कठोर दण्ड दिया गया और उन पर

ऐसी सख्तियां की गईं कि नियमबद्ध राजनैतिक आन्दोलन की इतिश्री हो गई। खुल्लमखुल्ला राजनैतिक आन्दोलन के अस्त हो जाने से गुप्त आन्दोलन को बल मिला। गुप्त आन्दोलन के उत्तरदायी पञ्जाब के राजनैतिक नेता नहीं, किन्तु वे अदूरदर्शी तथा अनुभव-शून्य अफ़सर है जिन्होंने अपनी अत्याचारपूर्ण नीति से पञ्जावी नवयुवकों के हृदय मे बदला लेने की क्रोधपूर्ण आग भड़काई। उस समय पञ्जाब के नेताओं ने गवर्नमेन्ट के दबाव से अपनी नीति को राजभक्ति का लिबास पहनाया और ऐसे कार्य्य किये जो उनके नेतृत्व को कलङ्कित करते हैं। पञ्जाव की दशा तब तक न सुधरेगी जब तक कि पञ्जाब गवर्नमेन्ट पञ्जाब में खुल्लमखुल्ला राजनैतिक आन्दोलन को दबाने से न रुकेगी और जब तक पञ्जाब के शिक्षा विभागीय तथा धार्मिक नेता नैतिक साहस से काम न लेंगे। याद रखना चाहिए कि संस्थायें जातीय जीवन को उन्नत बनाने के साधन है। जाति उनके लिए नहीं है। वे जाति के लिए हैं। जो संस्था जाति में नैतिक-दुर्बलता, धूर्त्तता तथा भीरुता फैलाती है वह देश तथा शासक वर्ग दोनों के लिए विष तुल्य है। जाति को शिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता है; परन्तु जाति को शिक्षित गुलामों से कुछ लाभ नहीं पहुंच सकता। हमारे नेताओं को समझना चाहिए कि रोगी को ऐसे वैद्य की आवश्यकता है जो शरीर से बीमारी का बीज निकाल डाले। जो वैद्य एक रोग के

आराम करने में दूसरी बीमारी उत्पन्न करने का कारण बनता है वह वैद्य नादान तथा अदूरदर्शी है। शिक्षा सच्चरित्रता का स्रोत है और सच्चरित्रता साहस तथा आत्म-त्याग का नाम है। जो शिक्षा हमको साहस तथा आत्म-त्याग नहीं सिखलाती वह हमारी जातीय उन्नति कदापि नहीं कर सकती।

भारतीय नेताओं का भावी कर्तव्य

विदेशी राज्य का सब से बड़ा दुष्परिणाम प्रजा में परतन्त्रता का उत्पन्न करना है। पराधीन देशों मे स्वामी के वितरण किये हुए उच्छिष्ट टुकड़ों को प्राप्त करने के लिए आपस में फूट और कलह उत्पन्न हो जाती है। सन् १९०९ ई० मे जब लार्ड मारले ने अपनी सुधार-स्कीम पेश की थी तब उन्होने नरम दल वालो को मिलाकर गरमदल वालों को नीचा दिखाने के लिए भरसक प्रयत्न किया था। कतिपय नरम दल वालो को उन्होने कुछ बड़े बड़े पद देकर उनके नामो से आनरेबुल की उपाधि का पुछल्ला भी लगा दिया था। मि० माण्टेगू और लार्ड चेम्सफोर्ड ठीक उसी प्रकार का खेल खेल रहे हैं। इनकी प्रशंसा इस बात मे अवश्य है कि ये अपने काम को अधिक ख़ूबी के साथ कर रहे हैं। लार्ड मारले में इतनी हिम्मत न थी। मिस्टर माण्टेगू धीरे धीरे उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ बने जा रहे हैं। किन्तु इन्हें भी फूंक फूंक कर पैर रखना पड़ता है। हां, यह अवश्य है कि गत बारह महीनों मे उन्होने जितने माडरेटों को अपने पक्ष में कर लिया है उतने मारले साहब पांच वर्षों में भी न कर सके थे। एक से एक बड़े पद देकर उन्होंने माडरेटों को पूरी तरह से जीत लिया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि लार्ड मारले से इनका दर्जा

भारतवर्ष के शासन-सुधारकों में कहीं बढ़ा चढ़ा है ।

स्वामी के उच्छिष्ट टुकड़ों को प्राप्त करने के लिए आपस में संग्राम करना भारतवर्ष के राजनीतिज्ञ खूब जानते हैं। प्रारम्भ ही से इस प्रकार की वैमनस्यता फैल रही है और प्रति दिन बढ़ती जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि जाति के जीवित रहने का यह एक बड़ा भारी चिन्ह है। कलह कोई बुरी बात नहीं। हम में शान्ति का रहना भी ठीक नहीं। 'जीवन एक सत्य वस्तु है, शांति और स्थिरता का नाम जीवन नहीं।' हम लोगों को सिखाया गया है कि हम शांति और स्थिरता को अपने जीवन से भी अधिक प्यार करें। इसी कारण हमारा पतन हो गया है। नेताओं के दल में भिन्न भिन्न मतों का होना सूचित करता है कि उन लोगों का जीवन हाथ पर हाथ रक्खे नहीं बीतता है। इन सब बातों से हम लोगों को प्रसन्नता अवश्य होती है। किन्तु एक सब से बड़ा भय यह है कि कहीं अन्त में इसका परिणाम बुरा न हो। नेताओं से इस प्रकार वाद-विवाद न करना चाहिए जिससे किसी प्रकार की आन्तरिक वैमनस्यता उत्पन्न हो जाय। माडरेट लोगों की सब से बड़ी भूल यह है कि वे अपने धैर्य, जानकारी, सहनशीलता, राज-नीतिज्ञता और भूतकाल के परिश्रम और हानियों का बड़ा आडम्बर दिखाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें बहुत से लोग प्रशंसनीय हैं। इनकी हार्दिक देशभक्ति में कुछ भी सन्देह

नहीं। किन्तु देशभक्ति मे क्या उन्ही की छाप है? बुद्धिमत्ता और चतुरता किसी के बांट मे नही है। वास्तव मे इन दोनो प्रकार के नेताओं में कोई बड़ा भारी मत-भेद नहीं है। हां, सुधारो के विषय में ही वे अपनी अपनी विषमता अवश्य प्रकट करते हैं। इसका क्या कारण है कि माडरेट लोगो ने कांग्रेस को त्याग दिया? क्या संख्या मे न्यून होकर रहना उनके लिए एक वर्ष भी सम्भव न था? जब कि गरमदल वाले कई वर्षों तक कांग्रेस में, संख्या में उनसे न्यून रहे; तब भी उन्होंने कांग्रेस को न छोडा।

सुधारो के विषय मे यह सब की सम्मति है कि वे सन्तोषप्रद नही है। उनमे बड़ी बड़ी त्रुटियां हैं। सब लोगों का यही कथन है कि सुधार-एक्ट हमको भारत-सरकार में कुछ भी हक़ नहीं देता। अतः यह सब से भारी कसर है। गरमदल वालों का कहना है कि सुधार असन्तोषप्रद और निराशाजनक हैं। माडरेट लोग इन शब्दों के विरुद्ध हैं। बस लडाई की सारी जड यही है। दोनों प्रकार के नेता इस बात को बिल्कुल भूलते है कि सरकार केवल उतने ही अधिकार देगी जितनों का देना सरकार की स्थिति के लिए आवश्यक है। सब सरकारो का यही दस्तूर है कि वे वेही अधिकार देने पर उद्यत होती है जिनको कि प्रजा ने लड़कर जीत लिया है। इन्हीं सब बातो का विचार करके मालूम होता है कि भारतवर्ष

पंजाब की दुर्दशा का मूल कारण

जब से पञ्जाब के ऊपर जेनरल डायर और सर माइकेल ओडायर के अत्याचारों का हाल मैंने सुना, तब से पञ्जाब की मूर्ति दिन रात मेरी आंखों के सामने फिरा करती है। उठते, बैठते, सोते, जागते, चलते, फिरते सदा उस अभागे देश का ध्यान बना रहता है। न खाने में आनन्द आता है न पीने में स्वाद। सदा चित्त में उदासी छाई रहती है।

गत कई वर्षों से मुझे पञ्जाब के सार्वजनिक जीवन की ओर से अत्यन्त असन्तोष रहा है। पर इधर कुछ दिनों से जो जागृति पञ्जाब में हुई थी उसे देखकर मैं मन ही मन बहुत खुश होता था और सोचता था कि यह जागृति स्थायी होगी। परन्तु शोक! जो कुछ देखने में आया उसकी कदापि आशा न थी। सर माइकेल ओडायर ने जिस दिन पञ्जाब की पूज्य भूमि पर क़दम रक्खा उसी दिन से वे इस बात की कोशिश में रहे कि पञ्जाब में सार्वजनिक जीवन का बिल्कुल नाश हो जाय। पञ्जाब के दुर्भाग्य से सर चार्ल्स ऐचीसन के बाद उस को ऐसे ही लेफ्टेनेन्ट गवर्नर मिलते रहे, जिन्होंने पञ्जाब को राजनैतिक मामलों में और प्रान्तों से पीछे रखने की लगातार कोशिश की। सर चार्ल्स रिवाज़ एक साधारण श्रेणी के शासक थे। उनने सिविल सर्विस को आगे क़ाबू में रखने की

योग्यता न थी और वे अपने मातहत अफ़सरों के हाथ की कठपुतली सदा बने रहे। सन् १९०७ ई० का उपद्रव उनकी अयोग्यता और अदूरदर्शिता का फल था। कहा जाता है कि इस उपद्रव का कारण कुछ नवयुवकों का जोश था; परन्तु यह कहने में मुझे तनिक भी सङ्कोच नहीं कि इस जोश को उभाड़ने वाली पञ्जाब की गवर्नमेन्ट थी। पञ्जाब के सिविलियन अफ़सर पञ्जाब की सार्वजनिक जागृति को सदैव घृणा की दृष्टि से देखते रहे हैं। हिन्दू मुसलमानों के विरोध, ज़मीदारों की अशिक्षा और रईसों की चाटुकारिता ने पञ्जाब को हमेशा के लिए पराधीनता के चंगुल मे फंसा दिया है। एक वह समय था जब पञ्जाब की प्रजा सर हेनरी लारेंस के वर्ताव पर कृतज्ञता प्रकाश करती थी। वर्षों तक पञ्जाब निवासी अंग्रेज़ी शासन का प्राचीन समय की 'सिक्खशाही' से मुक़ाबिला करके अंग्रेज़ी शासन की दुहाई देते रहे। उनकी राजभक्ति ने अंग्रेज़ी शासन को सन् १८५७ ई० के उपद्रव में नष्ट होने से बचाया और उसके बाद संसार के प्रत्येक भाग में उन्होंने अपनी वीरता से अंग्रेज़ी झण्डे का साथ दिया। संसार के भिन्न भिन्न देशों को अंग्रेजी साम्राज्य के लिए विजय किया। परन्तु जब हम इस राजभक्ति का पञ्जाब की वर्तमान दुर्दशा से मुक़ाबिला करते हैं तो हमारे हृदय में असहनीय वेदना होती है।

हमको शोक के साथ कहना पड़ता है कि पञ्जाब की दशा

अन्य प्रान्तों से कहीं ख़राब है। सच तो यह है कि पञ्जाब के अंग्रेज़ी शासकों ने पञ्जाब के किसानों को जानबूझ कर अशिक्षित रक्खा। ज़बानी जमा-ख़र्च तो उन्होंने इनके लिए बहुत कुछ किये परन्तु उनको शिक्षित करने तथा उनमें औद्योगिक और राजनैतिक योग्यता उत्पन्न करने की ज़रा भी कोशिश उन्होंने नहीं की।

पञ्जाब के ज़मींदारों को साहूकारों से बचाने की बहुत सी डींगें हांकी गईं। ज़मीन के रेहन-बय करने का क़ानून भी पास किया गया। परन्तु इस नीति में अदूरदर्शिता तथा पक्षपात के सिवाय और कुछ न था। हिन्दू, मुसलमानों, ज़मींदारों और साहूकारों में ईर्षा-द्वेष की नींवें अवश्य इस क़ानून ने दृढ़ की। बेचारे किसानों को इस क़ानून से रत्ती भर भी लाभ न हुआ! पञ्जाब के किसानों की आर्थिक दशा बाज़ ज़िलों में मज़दूरों से भी गई बीती है। उनकी वार्षिक आय इतनी भी नहीं होती, जितनी कि मिलों में काम करने वाले मज़दूरों की होती है। नहर, लगान और सेटलमेंट से उपनिवेशों में मालदार लोगों को ही अधिकतर लाभ पहुंचा; दीन कृषकों को कुछ भी लाभ न हुआ।

इधर जब हम शिक्षित वर्ग की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें खेद से कहना पड़ता है कि इस आधुनिक [illegible] के [illegible] के पश्चात् कभी गवर्नमेण्ट ने उनको सन्देह की दृष्टि से

देखते रहे। किसानों के साथ सहानुभूति दिखाने की आड में शिक्षित समाज तथा मध्यम श्रेणी के नागरिको को भांति भांति से सताया गया। धार्मिक-विभिन्नता को भांति भांति के उपायों से उकसाया गया। हर प्रकार से स्वातन्त्र्य-प्रियता को दबा कर उसके स्थान पर झूठी राजभक्ति को बढाया गया।

हम यह कहने से रुक नहीं सकते कि पञ्जाब में अदूर-दर्शिता की इस नीति की सफलता के कुछ ख़ास कारण थे और उनमें शिक्षित समाज की नैतिक साहस हीनता एक जबर्दस्त कारण था।

एक समय था जब ज़िन्दा-दिल पञ्जाब अपनी देशभक्ति और सार्वजनिक जीवन के कारण भारतवर्ष भर में विख्यात था। अन्य प्रान्तो का शिक्षित समाज पञ्जाब की ओर ईर्षा की दृष्टि से देखता था। पञ्जाब को पब्लिक स्प्रिट का उदाहरण बतलाया जाता था। यदि पञ्जाव की आर्थिक दशा के साथ पञ्जाब की उन सार्वजनिक संस्थाओ का मुक़ाबिला किया जाय जो सार्वजनिक चन्दों से चल रही है तो इसमें सन्देह नहीं कि पञ्जाब अपनी ज़िन्दा-दिली के लिए भारतवर्ष भर में अद्वि-तीय ठहरे। यदि दूरंदेशी से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि यही कार्य्य वास्तव में पञ्जाब के सार्वजनिक जीवन की नैतिक निर्बलता का एक बड़ा भारी कारण हुआ है।

पञ्जाब की भिन्न भिन्न समाओं (आर्यसमाज, सिक्ख

के नेता केवल टुकड़ों के लिए लड़ मरते हैं। सुदूर स्थायी अमेरिकनों के विचार में यहां के नेताओं में दूरदर्शिता और हिम्मत नहीं है। वे भूतों को देखकर भय खा रहे हैं। वास्तव में वह जिस बात से डर रहे हैं वह सरकार की ताक़त नहीं है किन्तु स्वयं उनकी कमज़ोरी है। उनमें आत्म विश्वास नहीं है। यहां के बहुत से नेता केवल आराम कुरसी के तेज़ हैं। जो कुछ लिखते पढ़ते हैं वह अपने फ़ायदे के लिए। जनता की दुर्दशा पर वे अपनी सहानुभूति प्रकट करने पर हमेशा उद्यत रहते हैं; किन्तु जनता के दुख बटाने से सदा दूर भागते हैं। उनमें और साधारण जनता में बड़ा भारी अन्तर है। जिसकी पूर्ति वे नहीं कर सकते। वे तो महलों में रहते हैं, किन्तु जनता के लिए झोपड़ियां भी नहीं हैं। उनमें बहुत से सर, रायबहादुर, और खां बहादुर हैं। इन उपाधियों पर उन्हें बड़ा अभिमान है। उनके राजनैतिक विचारों को प्रकट करते हुए समाचार पत्र 'सर' की बारम्बार झङ्कार करते हैं। चाहे जैसी भी बात हो कोई 'सर' या 'आनरेबुल' महाराज आम को इमली कहें तो लोग इमली ही कहने पर तैयार हो जायेंगे। राजाओं और नवाबों का तो कहना ही क्या है, साधारण मनुष्य तक इस बात से थर थर कांपते हैं कि कहीं उनके मुंह से ऐसी बात न निकल जाय कि सरकार उनसे नाख़ुश हो जाय। अपने नेताओं के चुनाव में भारतवासी योग्यता और हिम्मत को नहीं देखते;

किन्तु उसी आदमी को चुनते हैं जिसे सरकारी अफ़सर पसन्द करें। स्वतन्त्रता के लिए जो पाश्चात्य देशों में आन्दोलन किये जाते है वे उसे भली भांति समझते है; किन्तु जब उसका प्रयोग उन्हीं के प्रति किया जाता है तो वे बुरा मानते हैं। कांग्रेस अब गरम पार्टी के हाथों में आ गई है। अतः माडरेट लोग हल्ला मचाये रहते है। 'लीडर' का कथन है:— 'उन्होंने कांग्रेस को बरबाद कर डाला है। जिस क्षण से माडरेटों नेताओं ने कांग्रेस को छोड़ा, उसी समय से उसकी बरबादी आ गई।' जो बात उनकी समझ मे नही आती है उसकी निन्दा करने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं। एंग्लो-इण्डियन जिन कुत्सित उपाधियों का प्रयोग उनके प्रति करते हैं वही शब्द वे ऐक्सट्रीमिस्ट लोगों के प्रति इस्तेमाल करते है। माडरेट लोगों के समाचार पत्र इस बात पर बड़ी धूम बांधते हैं कि बहुत से प्राचीन और गुणी नेता उन्हीं में के थे। समय समय पर वे उनके नाम लिख लिख कर उनके महान कार्य्यों का ध्यान दिलाते है। हम इन नेताओं को बड़े आदर की दृष्टि से देखते है और उनकी बुद्धिमत्ता की सराहना सुनने और सुनाने के लिए बड़े उत्सुक है। भारतवर्ष मे आधुनिक जागृति की नीव उन्ही ने डाली है। इसलिए उन्हें धन्यवाद है। किन्तु यदि देश अब अपना उद्धार दूसरे मार्ग पर चलकर करना चाहता है तो इसमें क्या हानि है ?

नेता केवल वही कहा जा सकता है जिसका नेतृत्व सब को स्वीकार हो और जो हमेशा सबका सिरमौर रह कर जनता पर प्रभाव डाले। नेता को हमेशा निडर, हिम्मती और आत्म-त्यागी होना चाहिए। आज जो हमारा नेता है यह आवश्यक नहीं कि वह हमारा नेता सदा बना रहे। नेताओं में उन्नति का होना बहुत आवश्यक है। समयानुसार उनमें परिवर्तन अवश्य होना चाहिए। नेता होना विद्वता और वयस पर निर्भर नहीं है और न टाइटिल और पुछल्लों से उसका कुछ सम्बन्ध है। हां, कभी कभी नेता का यह फ़र्ज़ है कि प्रजा को रोके और सिखाये। किन्तु उसका नेता होना बिल्कुल असम्भव होगा जिसके विचार प्रजा के विचार से बहुत पिछड़े हुए हैं। जब ऐसा होता है तो उसका रोकना लोगों को बुरा मालूम होता है और वह नेता स्थान-च्युत हो जाता है।

जब कोई नेता अपने प्राचीन कार्य्यों का स्मरण दिला कर अपनी बात का प्रभाव डालता है तो उसका कुछ और प्रभाव न होकर उसकी हंसी होती है। उसी के कथनानुसार उसके अनुयायी लोग इस बात को जानते हैं कि वह आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे हट रहा है। जिसका कि कोई ठीक ठीक कारण भी नहीं मालूम होता। सब लोग उस मिनिस्टर की बातों की तीव्र आलोचना करते हैं। यदि देश के हित के कारण कठिनाइयों के झेलने का प्रश्न आ जाता है तो वह स्वयं

मानना होगा कि इस विषय में माडरेट नेताओं से एक्सट्रीमिस्ट नेता कहीं बढ़े चढ़े हैं। क्या माडरेटों में कोई ऐसा है जिसकी कठिनाइयों की सीमा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक अथवा महामान्य अरविन्द घोष के मुक़ाबिले हो? माननीय पं० मदनमोहन मालवीय जी के अलग होने के कारण माडरेट लोग और भी अधिक हताश हो गये हैं। क्या ऐसे लोगों को आप देशभक्त और आत्मत्यागी कहेंगे, जिनके बड़े बड़े बैङ्क और मिल है और जो अपने तथा अपने लड़कों के सुख के लिए धन एकत्रित करना अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं, टाइटिल के पुछल्लों की जिनके पास कमी नहीं है तथा जिनकी स्थिति वास्तव में चापलूसी के कारण इतनी उन्नति कर गई।

कुछ वर्ष हुए कि माडरेट नेताओं का कहना था कि जिस व्यक्ति की प्रशंसा 'पायोनियर' में की जाय उसको घृणा की दृष्टि से देखना चाहिए। ईश्वर की कृपा से वे लोग अभी जीवित हैं और अपनी तारीफ़ न केवल 'पायोनियर' ही में किन्तु 'लण्डन टाइम्स' और 'इङ्गलिशमैन' इत्यादि में पढ़ते है। हमे वे दिन अभी याद है जब कि कुछ माडरेट नेता लार्ड सिडनहम की बड़ी प्रशंसा करते थे। उनमें से एक ने लिखा था कि 'लार्ड सिडनहम बोलते हैं तब सारा देश कान उठाकर उनकी वक्तृता सुनता है।' विचारने की बात है कि लार्ड सिडनहम की ओर से उनके विचारों में अब कितना परिवर्तन

हो गया है। सच तो यह है कि ग़लती सभी से होती है। बड़े भारी दूरदर्शी होने पर भी माडरेट नेताओं ने तो यह ग़लती की ही है। पुरुषार्थ की कमी और अकर्मण्यता से तथा संसार की अवस्था और तरंगों से अनभिज्ञ होने के कारण बहुत से उपयोगी अवसरों को उन्होंने हाथ से खो दिया है। हम सभी में कुछ न कुछ स्वार्थ की मात्रा है। इसलिए स्वार्थी होने के कारण हम माडरेट नेताओं को इतना बुरा नहीं समझते हैं। संसार में ऐसे बहुत कम स्त्री और पुरुष हैं जो अपने विश्वास के कारण दुख सहने के लिए उद्यत रहते हों। अपनी जाति अथवा देश के स्वार्थ का असर हम लोगों में से सभी के विचारों पर, जान में अथवा बे-जान में, अवश्य पड़ता है। भारतवर्ष में ऐसे मनुष्यों की बहुत कमी है जो अपने विश्वास के ऊपर सर्वस्व त्याग करने के लिए प्रस्तुत हो। यदि ऐसा न होता तो भारतवर्ष की यह दशा न होती। अतः यह बड़ी मूर्खता है कि हम लोग किसी विचार को केवल इसलिए मान लें कि अमुक सर अथवा आनरेबुल उससे सहमत हैं। जो कुछ सामने आ पड़े उससे हिम्मत के साथ लिपटना चाहिए।

अपने देश को स्वतन्त्र करने के विषय में हम लोग किसी से नहीं दबते। किन्तु स्वतन्त्रता की परिभाषा गरम और नरम दल वाले दोनों ही ठीक नहीं समझते। माडरेट लोग स्वराज्य धीरे धीरे चाहते हैं और यही हाल एक्सट्रीमिस्ट लोगों का

है। हां, यह अवश्य है कि एक्सट्रीमिस्ट लोग कुछ आगे बढ़े हुए हैं।

धनी और पुछल्लेदार लोग जो दरिद्रों पर कोरी धांक बांध कर केवल रोब झाड़ते हैं उनके दुख दूर करने के विषय में कुछ भी ध्यान नही देते। ज़मींदारों, ताल्लुकेदारों और सेठ साहूकारों तथा मुसलमानो, सिक्खों और ईसाइयों की ओर से प्रतिनिधि भेजने के लिए ख़ास प्रबन्ध किया जा रहा है। माडरेट लोग इस पर बहुत ज़ोर दे रहे है। उनमे से बहुत कम ऐसे हैं जो कि ज़मींदार, ताल्लुकेदार और मिल वालों के खिलाफ़ अपना वोट देने पर तैयार होंगे। बङ्गाल के सबसे बडे नेता हमेशा धनी लोगों के पक्ष मे रहना अपना धर्म समझते हैं। जब लोग उनकी प्रशंसा करते हैं तब वे फूले नही समाते। उनके मुंह से हमेशा एक से एक अच्छे शब्द सुन लीजिए किन्तु जब काम करने का अवसर आता है तब वे हमेशा धनिकों का पक्ष लेते है। उनकी तरह और भी प्रान्तों में ऐसे नेता पाये जाते हैं। सच तो यह है कि हमारे नेता बुद्धिमत्ता, चालाकी और दाँव-घात पर अधिक विश्वास रखते हैं। उनके राजनैतिक विचार अब पुराने हो गये है। चालाकी और अधिक बुद्धिमत्ता के बीच में सच्चाई का लोप हो गया है। अतिशीघ्रता करना अच्छा नहीं, किन्तु साथ ही साथ बेपरवाही और ढीलापन भी बड़ी बुरी वस्तु है। कुछ बुद्धिमत्ता

चालाकी और मेल की आवश्यकता मनुष्य को अवश्य पड़ती है। हम लोग प्रारम्भ ही से सच्चाई का लक्ष्य नहीं कर सकते और न उस पर काम कर सकते हैं किन्तु जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे धन्य हैं। क्योंकि अन्त में उन्हीं की जय होगी। मनुष्यों के विचारों में परिवर्त्तन कर देने वाली शक्ति से और सत्य के लिए निछावर होने वाले मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं। इस प्रकार के एक अकेले मनुष्य का प्रभाव सैकड़ों विचारशील और बुद्धिमान माडरेटों से अधिक पड़ता है। नम्रता वहीं तक अच्छी है जहां तक वह निकम्मापन न कही जाय। मनुष्य के चाल चलन में नम्रता तभी अच्छी मालूम होती है जब उसमें कुछ सच्चाई हो। अपने विचारों में निर्भय और सत्यवादी होना और मनुष्यत्व की उन्नति की ओर ध्यान देना ही धर्म है। नेता की शान के लिए नेता बनना, व्याख्यानों में मनमाना बकना, तथा नाम के पीछे चौबीसों घण्टे फिरना महा मूर्खता है। इससे अधिक कमीनापन कुछ नहीं है। संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो प्रशंसा रूपी श्वांस के आधार से जीना पसन्द करते हैं। यद्यपि उनका साधारण जीवन ईर्षा-द्वेष और स्वार्थ से परिपूर्ण रहता है। जगत-विख्यात होने की लालसा उनके हृदयों में प्रबल बनी रहती है। प्लेटफार्म के ऊपर ईसामसीह, बुद्ध तथा शंकराचार्य से भी अधिक पवित्र वे अपने को समझते हैं। मानों जनता को उनके कुत्सित व्यवहार बिल्कुल

मालूम ही नहीं है। इस प्रकार के नेता केवल भारतवर्ष ही में नहीं किन्तु अमेरिका, युरोप आदि देशों में भी पाये जाते हैं। पर बात यह है कि हम लोग अस्वतन्त्र प्रजा हैं। इसलिए सभी लोग हमारी त्रुटियों पर उंगली उठाते रहते हैं, विशेष कर हमारे शासक लोग। ऐसा करने से उनका अभिप्राय यह है कि वे हम लोगों पर अपनी शान जमाना चाहते हैं। इससे हम लोगों को धैर्य न छोड़ देना चाहिए। हम लोग देवता नहीं हैं किन्तु मनुष्य हैं। सब की भांति ग़लती करना हमारे लिए अनोखी बात नहीं। मनुष्य मात्र की भांति हम लोगों में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। देशभक्ति में हम लोग अन्य स्वतन्त्र जातियों से कम नहीं हैं। सच तो यह है कि संसार भर में कहीं भी स्वतन्त्र मनुष्य नहीं हैं। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के प्रजावादी आन्दोलन केवल नाम के हैं। धनवान और कुलीन लोग निर्धनों पर बड़े बड़े अत्याचार करते रहते हैं। न्याय पाने की उनसे आशा रखना निरर्थक है। उनसे यदि कुछ भलाई हो सकती है तो केवल इसलिए कि उसके न करने से जो बुरा परिणाम होगा उससे वे भय खाते हैं। जब तक वे समझते हैं कि उन्हें किसी बात का भय नहीं है तब तक वे अपने ही देश भाइयों का गला दबाने को ज़रा भी बुरा नहीं समझते। बेचारे निर्धन लोगों से उन्हें पानी भराने का क्या अधिकार है? वास्तव में स्वतन्त्रतावादी दुनियां में बहुत

कम हैं और स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहने वाले तो कोई विरले ही हैं।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि स्वराज्य के अधिकारी हम तभी हो सकते हैं जब कि सारी जनता हमारे साथ चले। बुद्धि और चरित्र की अनुपस्थिति, जाति और धर्म के कारण वैमनस्य तथा शिक्षा का अभाव और दरिद्रता इत्यादि ऐसे कारण नहीं हैं जो कि स्वराज्य में रुकावट डालते हैं किन्तु वे कुछ और ही कारण हैं। हम लोग निर्धन इसलिए हैं कि दूसरे लोग हमारी ही वस्तु हमको सुख से खाने नहीं देते। अविद्या कोई बड़ी बुरी वस्तु नहीं। मूर्ख होने पर भी हम लोग बहुत से अमेरिकनों और युरोपियनों से अधिक नम्र और विचारशील हैं। चरित्र की भी हम में कमी नहीं है। हम लोग उनसे कहीं अधिक जितेन्द्रिय, सरल प्रकृति और ईमान्दार हैं। अमेरिकन और युरोपियन लोग लालच में पड़कर दूसरे को जान से मारने तक पर उद्यत हो जाते हैं। धर्म और विद्या के कारण हम लोगों में जो भिन्नता है उसए और स्वराज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी स्वतन्त्र जातियों में भी यह बात पाई जाती है।

हां, हम लोग अपने विश्वास पर दृढ़ रहना नहीं जानते। अपने तथा अन्य देश वालों की सख्ती और ज्यादती के अवरोध करने की शक्ति हम मे नहीं है। देश-सेवा मे उद्यत रहने

के कारण जो आपत्तियां झेलनी पड़ती है उनके सहने के लिए हम में पर्याप्त सहनशीलता नही है। सत्य और न्याय का पक्ष लेने से यदि सारा संसार विपत्त मे हो जाय तव भी उस पर कटिवद्ध रहने की आवश्यकता है। मुख्य बात तो यह है कि हम लोग स्वराज्य मांगना और लेना ही नही जानते। जब तक ये बाते हम लोग नहीं सीखेंगे तब तक चाहे हम लोग सर पटक कर मर जायं, स्वराज्य मिलना दुश्वार है।

माडरेट और एक्सट्रीमिस्ट दोनों ही कुछ न कुछ ग़लतियां करते हैं। माडरेट लोगों ने हमें चालाकी, डरपोकी, जनसत्ता का भय और अफ़सरों की अतिशय हां हुजूरी सिखलाई है; तो भी उनमें महात्मा गोखले और पण्डित मदनमोहन मालवीय सदृश नेता हुए हैं।

एक्सट्रीमिस्ट लोग भी नेतृत्व के घमण्ड में चूर रहे हैं; तो भी 'अरविन्द' और 'तिलक' सरीखे नेता उन्ही में पाये जाते हैं।

बल और पुरुषार्थ अराजकतावादियों ने ख़ूब सिखाया। किन्तु उन्होंने कतल करना और डाका डालने के अतिरिक्त हम को झूठ बोलना और धोखा देना भी सिखाया है। इस प्रकार से देश का उद्धार करने की आशा करना बिल्कुल निरर्थक है।

देश को इस समय ऐसे नेताओं की आवश्यकता है जो सत्य प्रिय और स्वतन्त्रवादी हो और वादाविवाद करने को सदा

तत्पर रहें। उन्हें सरल और निडर होने की बड़ी आवश्यकता है। हम लोग ऐसे नेता चाहते हैं जो साधारण मनुष्य की भांति अपना जीवन बिताते हों और साधारण मनुष्यों की भांति भोजन करते और वस्त्र पहनते हों। समय समय पर अपने भोजनों के लिए अपने हाथ से काम करते हों और साधारण मनुष्यों के विचार, चिन्ता और दुख में सम्मिलित रहते हों। हम ऐसे नेताओं को चाहते हैं जो पकड़े जाने पर बचने के लिए अफ़सरों से झूठ न बोलें और धनी तथा बड़े मनुष्यों की वैसे ही निर्दयता के साथ तीव्र आलोचना करें जैसी कि एक विदेशी की करते हैं। इस बात से उन्हें तनिक भी भय न खाना चाहिए।

हम लोग वास्तव में जनसत्तात्मक राज्य चाहते हैं। हम यह नहीं चाहते कि हमारे ऊपर विदेशी राज्य के स्थान में हमारे ही देश के धनी और बड़े मनुष्य राज्य करके वैसी ही ज़्यादती करें। चाहे जितने समय में प्राप्त हो किन्तु हम सच्चा सोना चाहते हैं, बनावटी नहीं। यह हम अवश्य समझते हैं कि हमारे देश वाले विदेशियों से शायद किसी किसी अङ्ग में अच्छा शासन करेंगे। और यह भी ठीक है कि विदेशियों के लोप हो जाने पर हमें केवल घरेलू शासकों से सामना करना शेष रह जायगा। किन्तु साथ ही साथ हम अन्तिम परिणाम को लक्ष्य में रखना अपना धर्म समझते हैं। शुद्ध चित्त होकर

हम सत्मार्ग पर चलना चाहते हैं। हम लोग अपना जीवन, धन और समय ऐसे मनुष्य के लाभ के लिए नहीं दे सकते जो कि हमारी ही गर्दन पर हाथ साफ़ करे चाहे वह हमारे ही देश का आचार्य्य या राजा क्यों न हो। हम केवल सामाजिक जन सत्तावाद का उपदेश देना चाहते हैं। हम साम्यवादी नही है। हम उसके नियमों को भी अच्छी तरह नहीं जानते। किन्तु हम केवल यह जानते हैं कि आजकल का समाज अन्याय और त्रुटियो से पूर्ण हैं। आधुनिक सभ्यता के प्रादुर्भाव के पूर्व जो समाज था उससे भी आजकल हमारा समाज असभ्य हो रहा है। इस नवीन सभ्यता के कारण दुख, दुर्भिक्ष, मृत्यु और व्याधियां हम लोगो मे प्रवेश कर गई हैं। प्राचीन दशा को प्राप्त करना हम नही चाहते। क्योंकि उससे हमारी उन्नति होना बिल्कुल असम्भव है। हम केवल समता का युग चाहते हैं। हमारे विचारानुसार प्रत्येक सरकार का यह मुख्य उद्देश्य है कि वह निम्नलिखित बातों पर ध्यान दे।

(१) प्रत्येक मनुष्य को स्वच्छ और अच्छा भोजन मिलने की कमी न रहे। उसके गृह का जल-वायु और उसके लिए स्वच्छ कपड़ों के प्रबन्ध का टोटा न रहना चाहिए।

(२) प्रत्येक माता के पुत्र के लिए, चाहे वह उत्पत्ति से वर्ण-शङ्कर ही क्यों न हो, (वास्तव में कोई बालक वर्ण-शङ्कर नहीं, क्योंकि सबकी उत्पत्ति प्राकृतिक नियमों के अनुसार

होती है और सबकी प्रकृति के अंश हैं:) अच्छे भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त विद्या का भी काफ़ी प्रबन्ध होना चाहिए और जिस ओर बालक की रुचि हो उसी ओर उसकी उन्नति के लिए प्रबन्ध करना चाहिए।

(३) प्रत्येक युवक और युवती को उसकी जाति का एक अंश समझना चाहिए और हर एक स्त्री-पुरुष को किसी न किसी प्रकार अपने शारीरिक अथवा मानसिक बल से कोई नवीन वस्तु संसार में छोड़ जाना चाहिए।

(४) प्रत्येक व्यक्ति को अपने आपको सुधारने के लिए समाज से काफ़ी समय मिलना चाहिए।

(५) अपनी तथा समाज की रक्षा के सिवाय दण्ड देने का अधिकार किसी को नहीं।

(६) प्रत्येक मनुष्य अपनी तथा अपने कुटुम्ब की यथोचित रक्षा तथा जीवन-निर्वाह करने के लिए पृथ्वी, वायु, जल तथा अन्य प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुएं नियमित रूप से पाता रहे।

(७) कोई किसी स्त्री पुरुष को धमका कर अपना स्वार्थ न साधे।

(८) राजनैतिक विषयों में सब स्त्रियों और पुरुषों का समान अधिकार है। हां यदि वह मनुष्य अथवा स्त्री प्रजा की प्रतिनिधि है तो उसके लिए अधिक अधिकार देना आवश्यक है।

(९) प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अधिकार रहे कि वह जिस समाज से सहानुभूति रखता हो उसकी सहायता करे। परन्तु उसको इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उसके ऐसा करने से दूसरों के अधिकार और स्वतन्त्रता पर तो कुछ बाधा नहीं पड़ती।

(१०) मनुष्यों और स्त्रियों के साथ एकसा व्यवहार जहां तक किया जा सकता है वहां तक करना चाहिए।

(११) उपरोक्त नियमों को पालता हुआ भी यदि कोई अधिक परिश्रम के साथ धन एकत्रित करता है तो उस धन के सुख भोगने का वह पूरा अधिकारी है। किंतु उसे ध्यान रखना चाहिए कि धन की सहायता से वह किसी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचावे।

बस यही हमारे सिद्धान्त हैं और हिन्दुस्तान में हम ऐसे नेता चाहते हैं जो इन सिद्धान्तो को फैलावें। अब राजनैतिक विप्लव का समय नही रहा। राज्यक्रान्ति करने के लिए डाका मारना, खून करना और प्रजा को कष्ट देना मूर्खता है। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि हमने एक दूसरी व्याधि उत्पन्न करली। इस नीति से लाभ कुछ भी नहीं निकल सकता। हम लोग केवल यह चाहते है कि हमारे नेता किसानों के अधिकारों को सुझावें और उनकी ओर से आन्दोलन करके उन्हें इतना धन कम से कम अवश्य दिलावें जिसमें उनका निर्वाह

अच्छी तरह हो सके। सरकार को कोई अधिकार नहीं कि वह एक ऐसे मनुष्य से कर वसूल करे जिसकी आय उसकी तथा उसके कुटुम्ब की भी रक्षा करने के लिए पर्याप्त नहीं है और न ज़मींदारों को कोई अधिकार है कि वे दरिद्र कृषकों से जो कुछ पावें नोचें खावें और इसका ध्यान न रक्खें कि कृषक और उसके कुटुम्ब के लिए कुछ बचेगा या नहीं। हमारी यही प्रार्थना है कि भारतवर्ष की सरकार, चाहे वह देशी हो या विदेशी, कुछ नियमों को इस प्रकार बदल दे कि प्रत्येक कृषक को इतना अवश्य बच रहे कि जिससे वह अपने कुटुम्ब का पालनपोषण भली भांति कर सके।

व्यापार में नये आविष्कारों का प्रयोग करना बहुत अच्छा है। हम व्यापारियों की उन्नति चाहते हैं। किन्तु हम यह नहीं चाहते कि मज़दूरों की गर्दन काटी जाय और वे अपना जीवन सुख से व्यतीत न कर सकें। प्रत्येक मनुष्य के सुख से जीवन व्यतीत करने के लिए प्रबन्ध होना चाहिए चाहे खेती से हो या व्यापार से। जो नेता इन बातों पर ध्यान नहीं देते वे मानव जाति का उपकार करना जानते ही नहीं। अन्य अन्य प्रकार के अधिकार मांगने और बड़ी बड़ी सरकारी नौकरियों के लिए प्रयत्न करने से यह अधिक आवश्यकीय है। जब हमारे नेता इन विषयों पर अच्छी तरह ध्यान देंगे तब सर्वसाधारण पर इसका अवश्य प्रभाव पड़ेगा। इससे जनता के हृदय में

राजनैतिक और आर्थिक जागृति उत्पन्न होगी और धीरे धीरे उसकी उन्नति होती जायगी। इस प्रकार की जागृति से हम लोग ब्रिटिश लोगों की भी सत्यता की परीक्षा ले सकते हैं। क्योंकि उनका कथन है कि जब तक हिन्दुस्तान की साधारण जनता में जागृति नहीं होती, तब तक हम लोग कतिपय पढ़े लिखे हिन्दुस्तानियों के हाथ में भारत का राज्य देने की अपेक्षा अपने हाथ में रखना अच्छा समझते हैं। उनका कहना है कि अंग्रेज़ी अफ़सर जनता के सुख का अच्छा प्रबन्ध कर सकते हैं। इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि उनका कहना बिल्कुल असत्य है। किन्तु तो भी उन्हीं के कथनानुसार काम करके उनसे क्यों न कह दिया जाय कि अब अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो। हम लोगों को उनसे कहना चाहिए कि रैयत को, आजकल की भारतवर्ष की कठिनाइयों को याद करके, भली भांति अपना जीवन व्यतीत करने के लिए वे सब प्रकार की सहायता दें। इस प्रकार की एक सूची तैयार करके प्रत्येक ब्रिटिश नियमकर्ता को देना चाहिए और सरकार को भली भांति जता देना चाहिए कि उन्हीं के वर्ताव से बहुत से नम्बरदारों की तूती बोल रही है। बहुत से मनुष्यों को सरकार प्रजा की मालगुज़ारी का कुछ भाग दिलाती है। इसका कारण केवल यह है कि उनसे जीवन भर अपनी कुटिल नीति में बड़ी सहायता मिलती है। बेचारी भारत की प्रजा को ऐसे

लोगों का बोझा क्यों उठाना पड़ता है ?

इस बात से हमें शोक होता है कि बड़े बड़े विद्वान देश-भक्त अपना परिश्रम व्यर्थ कामों की ओर लगाकर वास्तविक उन्नति की ओर ध्यान नहीं देते। ऐसा करने से वे अपने साथ जनता के चित्त को भी व्यर्थ कार्य्यों की ओर आकर्षित कर लेते हैं। इस प्रकार आवश्यकीय और महत्वपूर्ण कार्य्य नीचे दब जाते हैं।

इन उपरोक्त प्रस्तावों को हम आप के सामने रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आप लोगों में से वकील, बैरिस्टर, ज़मींदार, धनी और बड़े बड़े अफ़सर तथा अन्य पुछल्लाधारी मनुष्यों को हमारी स्कीम अवश्य अनहोनी मालूम होगी। किन्तु आप लोगों का यह कर्तव्य है कि इसकी ओर ध्यान दीजिए। क्योंकि जब तक इस स्कीम के अनुसार कार्य्य न किया जायगा तब तक भारतवर्ष का उद्धार कदापि नहीं हो सकता।

हिन्दुओं की उन्नति के मार्ग में रुकावटें।

हिन्दुओं की सांसारिक उन्नति के मार्ग में जो वस्तु सब से अधिक बाधक है वह, उनका यह सिद्धान्त है, कि यह संसार असार है। यह विचार हिन्दुओं के हृदय में इस तरह गड़ा हुआ है कि उनके जीवन के सब विभाग इससे रंगे हुए हैं। छोटे से लेकर बड़े, अमीर से लेकर ग़रीब, ब्राह्मण से लेकर शूद्र सब ही के सब इस विचार के नीचे दबे हुए हैं; यह कहना अनुचित न होगा कि इस विचार को हर एक हिन्दू बालक अपनी माता के स्तनों से पान करता है जितना वह बड़ा होता जाता है उतना ही उसके इस विचार की, जो उसके रक्त में रमा हुआ है, पुष्टि होती जाती है, क्योंकि वह अपने चारों ओर हिन्दू समाज—सोसाइटी और हिन्दू जीवनरूपी वृक्ष की हर एक टहनी, पत्ते और फल में यही रस पाता है। हर एक हिन्दू माता पिता यह चाहते हैं कि उनके पुत्र वा पुत्रियां संसार में सुखी हों और उनको संसार के सारे पदार्थ प्राप्त हों। परन्तु एकान्त में या संगत में सर्वदा उनके भीतर इस सिद्धांत की प्रतिमा बनी रहती है कि यह संसार झूठा है, अनित्य है, और उसके सारे पदार्थ अस्थिर और असार हैं। परन्तु सांसारिक धन्धों में फंस कर सांसारिक ज़रूरतों के बोझ के नीचे दब कर या सांसारिक संस्कारों

में लिपट कर प्रायः हिन्दू इस तरह से व्यवहार करते हैं मानो यह संसार और सांसारिक पदार्थ सचमुच सार वस्तु हैं जिनके लिये न केवल यत्न और पुरुषार्थ करना धर्म है बल्कि जिनके लिये बेईमानी, चोरी और दग़ा-बाज़ी करना भी कुछ ऐसे पाप नहीं जो करने के योग्य न हों ? इसका फल यह है कि हिन्दू जाति का जीवन दोमुंहा जीवन हो रहा है। कार्यक्षेत्र में उनका जीवन निरा दुनियादारी का जीवन है, इस जीवन में ऊंचे भावों का बहुत अभाव है; परन्तु ज्ञान और विचार के स्थलों में यही जीवन प्रथम श्रेणी का वैरागी और विरक्त जीवन है जो सर्वदा उनको यह सिखलाता है कि इस संसार की प्रभुता और उसके पदार्थों तथा उसके यश, मान और कीर्ति के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है—क्योंकि यह संसार, उसके सारे पदार्थ और भोग मिथ्या हैं। असल तत्व तो उनका त्याग है। हिन्दू पुरुष और हिन्दू स्त्रियों को जितना प्रेम वैराग्य और त्याग की कथाओं और भजनों वा उपदेशों से है उतना और किसी अन्य वस्तु से नहीं। उनके निकट जीवन का सर्वोपरि उद्देश्य संसार से अलग होना है। हिन्दू कितना ही कामी, व्यभिचारी, बदमाश, बदचलन, बेईमान क्यों न हो जब कभी उसको विचार का अवसर मिलेगा तो वह वैराग और त्याग ही की कथा सुनेगा और कर्मक्षेत्र में अपने मन्तव्य के अनुसार अपने आपको

जीवन धारा चलाने के अयोग्य पाकर वह उसी प्रकार से पाप करता हुआ चला जायगा।

यूरोप और अमेरिका के १५ वर्ष के बालकों वा बालिकाओं में सहस्र में एक ऐसा नहीं मिलेगा जो यह समझता हो कि इस जीवन का अन्तिम उद्देश्य त्याग है। इन बालकों के दिल में कभी यह विचार नहीं आता कि यह संसार झूठा है और उसके पदार्थ और भोग घृणा के योग्य हैं। इसके विरुद्ध अगर आप उसी उम्र के एक सहस्र हिन्दू बालकों वा बालिकाओं की परीक्षा लें तो आपको उनमें से नौ सौ ९०० ऐसे मिलेंगे जो यह बतलावेंगे कि यह संसार मिथ्या है और इसके पदार्थ और भोग घृणा के योग्य हैं। इन नौ सौ ९०० में ८९९ ऐसे होंगे जो इस विश्वास के रहते भी सांसारिक पदार्थ रूपी देवियों और देवताओं के पुजारी बनने की चेष्टा रखते होंगे। यह अद्भुत दृश्य बहुधा हैरानी में डालता है कि इस विश्वास के होते भी हिन्दुओं को जीवन और संसार के पदार्थ इतने प्रिय क्यों हैं? इस विश्वास का फल तो यह होना चाहिये था कि हिन्दुओं में अधिक सामर्थ्य इस बात की होती कि वे धर्म के ऊपर अपनी जानें न्योछावर कर देते और साँसारिक पदार्थों और भोगों पर लात मार कर धर्म-मार्ग में अधिक दृढ़ निकलते। इस प्रचलित शिक्षा का फल तो यह होना चाहिये

था कि हिन्दू अपने जीवन में कम लोभी होते किन्तु बात ऐसी नहीं है। हम देखते हैं कि साधारण रीति से हिन्दुओं में सांसारिक विभव और जीवन का प्रेम संसार की अन्य जातियों के व्यक्तियों से किसी अंश मे भी कम नहीं है। देश, धर्म और जाति के लिये जिस भाँति का भाव और उत्साह युरोप के पुत्रों और पुत्रियां में है उसका लेशमात्र भी हिन्दुओं में नहीं है। धर्म का जो बल हमारे मुसलमान भाइयों में है उसका शतांश भी हिन्दुओं में नहीं है। संसार में शायद ही कोई जाति ऐसी हो जो इतना धर्म २ पुकारती हो जितना कि हिन्दू जाति पुकारती है परन्तु जब उस धर्म पर अमल करने का समय आता है जब उस धर्म के अनुसार जीवन चलाने का प्रश्न होता है; जब उस धर्म के नाम पर सांसारिक पदार्थों और सुखों और भोगों को न्योछावर करने का समय आता है तो हिन्दू पीछे हट जाते हैं। संसार अगर झूठा है तो अपने देश, धर्म जाति के लिये जान देने में हमको तनिक भी अड़चन नहीं होनी चाहिये क्योंकि इससे दोनों मतलब सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु सच तो यह है कि हिन्दुओं को भी जान वैसी ही प्यारी है जैसी अन्य-जातिवालों को—बल्कि कुछ उनसे बढ़ कर—इसका कारण क्या है? प्रत्येक विचारवान् हिन्दू को यह प्रश्न अपनी आत्मा से करना चाहिये और उसका उत्तर पाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(२)

इसीसे मिलता जुलता हुआ बल्कि इसी से निकला हुआ दूसरा प्रश्न यह है कि हिन्दू जीवन में अकर्मण्यता और अविश्वास को इतना उच्च सिंहासन क्यों मिल रहा है? क्या इसका यह कारण है कि वैराग्य, त्याग और आत्मिक जीवन का जो उच्च आदर्श उनके सामने उनके शास्त्रों ने रक्खा है वह इतना ऊंचा है कि उसको अपनी पहुंच से बाहर देख कर हिन्दू साहस छोड़ बैठते हैं? जो अध्यापक, उपदेशक, महात्मा साधू, सन्यासी आता है वह यही कहता आता है कि यह संसार असार और मिथ्या है, इसके त्याग से ही मोक्ष पद प्राप्त होगा। प्रत्येक मनुष्य यही शिक्षा देता है, जीवन मरन का दुःख सबसे बड़ा दुख है इससे छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय त्याग और वैराग्य है। जब साधारण पुरुष और स्त्री देखते हैं कि यह मार्ग ऐसा कठिन है कि उनकी पहुंच से बाहर है तो उनका उत्साह भङ्ग हो जाता है और वे इस शिक्षा को सच और ठीक मानते हुए दुनिया में ऐसे हतोत्साह हो जाते हैं कि उनके लिये धर्म केवल चक्की का पीसना हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि मन की ऐसी अवस्था देखकर हमारे धार्मिक शिक्षक इससे लाभ उठाने का यत्न करते हैं। जो स्वयं संध्या नही कर सकता उसको ये बताते हैं कि वह किराये पर संध्या करने वाले लोगों को लगा कर उस फल

को प्राप्त करे जो उसको सन्ध्या से प्राप्त होता है। जो मनुष्य स्वयं गायत्री का जप नहीं कर सकता वह दूसरों से सवा लक्ष गायत्री का जप करा ले, जो स्वयं मंत्रोच्चारण नहीं कर सकता वह दूसरों से मंत्र बुलवा ले। इस तरह से आत्मा के साधनों का स्थान-किराये के साधनों से भरा जाता है, और साधारण मनुष्यों को यह बताया जाता है कि यद्यपि यह संसार असार, झूठा और मिथ्या है तदपि हमारी अर्थात् बतानेवालों की सेवा करने से और उनके धन देने से उस पाप से निवृत्ति हो सकती है जो व्यवहार में इस संसार को सार और सच्चा समझने से होता है। मेरी राय में इस शिक्षा ने हिन्दुओं के जीवन को झूठा और दाम्भिक बना दिया है, और इसीसे उत्पन्न अकर्मण्यता और अविश्वास ने हिन्दुओं को सामाजिक और जातीय उन्नति करने के अयोग्य कर रक्खा है। इसी शिक्षा का यह फल है कि हिन्दुओं में उस उत्साह की कमी है जिसके बिना संसार का कोई बड़ा कार्य्य सिद्ध नहीं होता, चाहे वह सांसारिक हो अथवा पारमार्थिक। युरोप में थोड़े दिन रहने से ही मनुष्य को यह प्रतीत होने लगता है कि उन लोगों में हमारी अपेक्षा अधिक पुरुषार्थ है। वे जिस विचार को ग्रहण करते हैं उसे शीघ्र ही कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। सैकड़ों युरोपियन स्त्री पुरुष ऐसे हैं जो हिन्दू-शास्त्रों के ज्ञान के जिज्ञासु हैं और जिन्होंने अपनी

समस्त सांसारिक सामग्री और अपना सारा समय और जीवन हिन्दू-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने में लगा दिया, और कभी उनको किञ्चित मात्र भी खेद न हुआ। इसी प्रकार से जिस व्यक्ति को जिस वस्तु का व्यसन उत्पन्न हो जाता है वह उसके पीछे मग्न हो जाता है और उसको प्राप्त किये बिना नहीं रहता। जीवन की हरएक शाखा में, समाज की प्रत्येक श्रेणी मे, जीवन के प्रत्येक विभाग में, हमको जीवित, जागृत जीवन-बल का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है अर्थात् वे लोग जो कार्य्य करते हैं उसे वे तन मन धन से एकाग्रचित्त होकर करते हैं। एक लोग ये है और दूसरे हम हैं, जो सवेरे से संध्या तक सौ बार जिह्वा से यह उच्चारण करते हैं कि यह संसार झूठा, मिथ्या और असार है किन्तु जिस समय हमको अवसर मिलता है, पराया धन हम ले लेते हैं, अपने लाभ के लिए दूसरों की निन्दा करने में और दूसरों पर महा दोष लगाने में किञ्चित् भी नहीं हिचकते, दिनभर हम धर्म धर्म पुकारते रहते हैं पर जिस समय उस धर्म के लिए कुछ व्यय करने या कष्ट सहन करने का प्रश्न उठता है हम कानों पर हाथ रख लेते हैं। दिनभर और रातभर देश देश, जाति जाति पुकारते हैं किन्तु जिस समय धर्म, देश और जाति के लिए दो चार पैसे व्यय करने या और किसी तरह का कोई कष्ट उठाने का अवसर आता है तुरन्त ही हम अकर्मण्य (मगरे)

बन जाते हैं, मानो हमको कभी भी धर्म, देश और जाति से सम्बन्ध ही नहीं हुआ। क्या हिन्दू नेताओं ने कभी इस बात पर विचार किया है कि हिन्दुओं मे प्रायः ऐसे लोगों की क्यों कमी है जो अपने विश्वास के पक्के हों और जो अपने सारे धन को, कीर्ति को, मान को और अपनी सारी प्रभुता को उद्देश्य की पूर्ति के लिए छोड़ने को उद्यत हों? हिन्दुओं में क्यों उस उत्साह की कमी है जो युरोपियन लोगों में पाया जाता है? हमारा सैकड़ों हिन्दुओं से परिचय है जो नित्य-प्रति यह कहते हैं कि अमुक कार्य्य बुरा है किन्तु वे स्वयं इस बात को स्वीकृत नहीं करते कि उस काम को छोड़कर अपने सुख में थोड़ी सी कमी होने दें। सैकड़ों आदमी हैं जो केवल भोग विलास और उसके सामान के लिए, केवल पद के लिए, केवल नाम के लिए, अपने ही को नहीं वरन् अपनी आत्मा को नित्यप्रति नीचे गिराते हैं। ये लोग पढ़े लिखे हैं, चतुर हैं, धर्म की पुस्तकें पाठ करते हैं, व्याख्यान देते और सुनते हैं, दूसरों को उपदेश करते हैं, किन्तु अपने जीवन में उस उपदेश का लेश मात्र असर नहीं होने देते। हमने सैकड़ों आदमियों को दूसरों पर सामाजिक कामों के सम्बन्ध में कायरता का दोष देते हुए सुना है किन्तु जब उनका वक्त आया तो बिना किञ्चित् खेद, लज्जा के उन्होंने स्वयं भी वैसी ही कायरता दिखलाई और फिर उसके बाद उस कायरता

पर मुलम्मा करना आरम्भ कर दिया। मेरे एक अंग्रेज़ मित्र ने मुझसे बड़े खेद के साथ यह बात कही कि जो लोग राजनैतिक स्वतन्त्रता या राजनैतिक स्वत्व के लिए रुपया व्यय करने को तैयार नहीं उनको बहुमूल्य पदार्थ नहीं प्राप्त हो सकते। मैं बहुत लज्जित हुआ किन्तु यह कहने से न रुका कि आप जो कहते हैं सच है। सच बात यह है कि हमको अत्यन्त लज्जा और दुख से यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे भीतर आत्मावलम्बन का इतना अभाव है, आत्मनिर्भरता की इतनी कमी है कि हम किसी अच्छे काम को उत्साह से नहीं कर सकते। यहां तक कि हम लोग सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने में भी अधूरा ही प्रयत्न करते हैं। प्रत्यक्ष में ऐसा प्रतीत होता है मानो हम किसी कार्य्य के पीछे हाथ धोकर पड़े हो, किन्तु वस्तुतः हमारी आत्मा में, हमारी बुद्धि मे और हमारे दिल मे अविश्वास और सन्देह के कीड़ों ने अपना राज्य कर लिया है और इससे हमारे सारे शरीर में एक ऐसा विष फैला हुआ है जो हमारे भीतर शुद्ध रक्त का सञ्चार नहीं होने देता। फल यह है कि तीक्ष्ण बुद्धि और भावपूर्ण हृदय रखते हुए भी हम आगे बढ़ने में असमर्थ हैं। हमारा समस्त रक्त अविश्वास के कीड़े पी जाते हैं, और वे हमारे हृदय तथा मस्तिष्क को पुष्ट नहीं होने देते।

हिन्दू नेताओं को चाहिए कि पहिले वे अपनी सामाजिक

संस्था में से इन सन्देह और अकर्मण्यता के कीड़ों को नष्ट करने का उपाय करें। बहुत से हिन्दूनेता अपने आपको आशापूर्ण बताते हैं, और कहते हैं कि उनको अपनी जाति की उन्नति का पूर्ण विश्वास है लेकिन मैं हाथ जोड़ कर नम्रता-पूर्वक उनसे निवेदन करता हूं कि केवल जिह्वा से कहने से वे अपनी जाति में आशा और विश्वास नहीं फैला सकते। उनकी सच्चाई का प्रथम सिद्धान्त यह होना चाहिए कि अपने जातीय धर्म के पालन करने में वे साधारण से अधिक उत्साह दिखाएं और दूसरे अपनी जाति के समस्त शरीर में विश्वास उत्पन्न करने का पूर्ण यत्न करें।

(२)

विक्रमीय वीसवीं शताब्दी में हिन्दू जाति ने बहुत से विचारशील उच्च-आत्मा महानुभाव अपने धर्म और जाति के सच्चे मित्र उत्पन्न किये। उनके जीवन, उनके चरित्र और उनके महान् भावों पर हिन्दू जाति जितना अभिमान करे थोड़ा है। उनके नाम सदा के लिए हिन्दू जाति के इतिहास में लिखे हैं और लिखे रहेंगे। उन्होंने दुनिया को फिर से एक वार परिचय दिया था कि इस जाति में अभी तक जीवन है। जो जाति इतने दिनों अवनति और राजनैतिक परतन्त्रता के बाद अपने अन्दर से इस प्रकार के महानुभाव उत्पन्न कर सकती है, उसको अपनी उन्नति से निराश न होना चाहिए। इन

महापुरुषों ने संसार को दिखा दिया है कि हिन्दुओं में बुद्धि, विचार और अच्छे मस्तिष्क की कमी नहीं है और न इनमें धर्म भाव (ब्रह्मवर्चस) की ही कमी है। इनमें से कतिपय मनुष्यों ने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिन्दुओं में उत्साह व प्रयत्न का भी टोटा नहीं है, पर मेरी समझ में इन पिछले महात्माओं को जो अपने कर्तव्य में पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई उसका कारण एकमात्र वही विष है जिसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। यह विष हमारे सारे पुरुषार्थ और यत्न को ढीला कर देता है, चलते चलते मानो यह हमारे अन्दर लकवा पैदा कर देता है। हम काम का आरम्भ बड़े उत्साह, साहस व उदारता से करते हैं, थोड़ी दूर तक भली भांति चले भी जाते हैं, सफलता ही सफलता प्राप्त होती दिखाई देती है कि इतने में सन्देह और निरुत्साह के कीड़ों का बीज जिसको हमने दम भर के लिए दबा दिया था फिर ज़ोर पकड़ता है और हमारे ख़ून को गंदा करके उसमें विष फैलाने लगता है; यहां तक कि हम बढ़ते बढ़ते सिकुड़ने लगते हैं। न केवल आगे का बढ़ना बन्द हो जाता है बल्कि जितनी उन्नति पहले की थी वह भी हाथ से जाती रहती है, न केवल सारे किये पर पानी फिर जाता है वरन् वह किया हुआ जाति के लिए एक नया विष का रूप धारण करता है। हिम्मत हार जाती है, उत्साह नष्ट हो जाता है, आशा निराशा में बदल

जाती है, और जाति में क्रोध, कायरता, भीरुता तथा नैराश्य फैल जाता है। अपने पराये सब शत्रु दिखाई देते हैं, अपने में विश्वास नहीं रहता और न अपनों दूसरों में विश्वास रहता है। प्रेमप्रीति, मेलमिलाप की जगह घृणा अविश्वास फैल जाते हैं, अपनों को छोड़कर हम परायों का आसरा ढूंढते हैं, अपनों की निन्दा करते हैं, परायों की स्तुति करते हैं और जाति के अन्दर एक नई लहर अविश्वास और अप्रीति की ज़ोर मारने लगती है। बीसवीं शताब्दी के हिन्दू महापुरुषों में से तीन मुझको ऐसे प्रतीत होते हैं जिन्होंने हिन्दू जाति के रोग के मर्म को दूसरों की अपेक्षा सबसे अधिक और सब से अच्छा समझा। इससे यह मेरा मतलब नहीं है कि मैं उन तीनों के सिवाय दूसरों के काम और उनके उच्च भावों की प्रशंसा नहीं करता। परन्तु जिस विषय पर मैं इस समय लिख रहा हूं उसके सम्बन्ध में मैं इन तीनों की शिक्षा और इन तीनों के काम को बहुत कुछ उच्च पद देता हूं, क्यों कि मैं तीनों को हिन्दू जाति के नवजीवन की नींव रखने वाला मानता हूं। इन तीनों के नाम क्रमशः ये हैं:—(१) राजा राम-मोहनराय, (२) स्वामी दयानन्द सरस्वती, (३) स्वामी विवेकानन्द।

राजा राममोहनराय ने सबसे पहिले हिंदू जाति के रोग को पहिचाना और सबसे पहिले उन्होंने हिन्दुओं के धर्म में

स्वावलम्बन और आशा डालने की चेष्टा की। राजा साहब का काम बहुत कुछ संहारक रीति से था किन्तु तब भी वह बिल्कुल संहारक ही न था। एक ओर जहां उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक दुर्बलता का अनुभव करके उस दुर्बलता के कारणों को लोगों को जताया और अन्य धर्म वालों के अनुचित आक्षेपों का उत्तर देकर हिन्दू लोगों को ईसाई व मुसलमान होने से रोका दूसरी ओर उन्होंने प्राचीन हिन्दू शास्त्रों का प्रमाण देकर उनकी नाव पर हिन्दुओं को सीधा परमात्मा से सम्बन्ध करने का मार्ग दिखाया। राजा साहब बड़े विद्वान थे। वे अर्बी, यहूदी, यूनानी, फ़ार्सी और अंग्रेज़ी के पण्डित थे और इन सब को उन्होंने हिन्दू जाति के संशोधन के काम में जोता। यहूदी, यूनानी के पाठ से उन्होंने इञ्जील के प्रचारकों के मुंह बन्द किये और अर्बी, फ़ार्सी की मदद से उन्होंने इस्लामी आक्षेपों के उत्तर दिये। उनको संस्कृत इतनी आती थी कि वह पादरियों और मौलवियों को यह बता सकते थे कि हिन्दू शास्त्रों में एक परमात्मा की पूजा की शिक्षा है किन्तु उनकी संस्कृत की विद्वत्ता इतनी गहरी न थी कि वे हिन्दू शास्त्रों के सहारे हिन्दू नवजीवन का भवन खड़ा कर सकते। इतने पर भी उन्होंने जो कुछ किया वह देश-काल के अनुसार ऐसा महान था कि हिन्दू जाति के नवजीवन दाताओं की श्रेणी में उनका नाम सदा के लिए उच्चपद पर लिखे जाने के योग्य

है। राजा राममोहनराय के बाद स्वामी दयानन्द सरस्वती आये। स्वामी जी कोई अनार्य्य भाषा न जानते थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन का आधा भाग हिन्दू विद्वानों में, हिन्दू तीर्थों में और भारत की यात्रा में काटा था। वह हिन्दू जीवन रूपी शरीर की समस्त नाड़ियों का पूरा पूरा अनुभव रखते थे। उन्होंने हिन्दू जीवन की समस्त शाखाओं की अच्छी तरह से जांच परताल की थी। उन्होंने हिन्दू धर्म के सब धर्म-शिक्षकों से शिक्षा पाई थी और हिन्दू मत-मतान्तरों का अच्छी तरह से अवलोकन किया था। ४८ वर्ष तक निर्विघ्न पूर्ण ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने हिन्दू वैराग्य, हिन्दू त्याग के आनन्द का आस्वादन किया था। उन्होंने बड़े से बड़े वैरागियों, त्यागियों, साधुओं, सन्यासियों और महन्तो के पांव चूमे थे। उनके हृदय में वैदिक धर्म के लिए अद्वितीय अनुराग था। उनको प्राचीन विद्या और प्राचीन सभ्यता का अभिमान था, उनको इस बात का भी अभिमान था कि आर्य्य विद्वानों ने धर्म के, और आत्मिक विद्या के जिन मर्मों की खोज की थी वे अद्वितीय हैं। इस मार्ग में जो उच्च पद आर्य्यों को प्राप्त हुआ उससे ऊंचा पद किसी को प्राप्त हो ही नही सकता। उनके हृदय मे हिन्दू वैराग्य और हिन्दू त्याग का अभिमान था, किंतु इस पर भी अपनी जाति की वर्तमान अवस्था देख कर उनको अत्यन्त शोक होता था। हमको स्वामी जी के चरणों में बैठने

का कभी अवसर नहीं मिला। किन्तु हम उनके लेखों से यह मालूम कर सकते हैं कि स्वामी जी अपनी जाति की वर्तमान अवस्था को देख रक्त के अश्रु बहाते थे, अपनी जाति के प्राचीन गौरव को जब वह उसकी वर्तमान दुर्दशा के साथ मिलाते थे तो उनके हृदय में शोक और क्रोध का एक ऐसा पर्वत बन जाता था कि उनका हृदय फटने लगता था। उन्होंने दिन रात गङ्गातट पर हिमाञ्चल पर्वत के सामने अपनी जाति की मन्द अवस्था के कारणों पर विचार किया था। गङ्गातट की शीतल वायु में भ्रमण करते हुए उन्होंने अपने जीवन के उद्देश्य पर चिन्तन किया और अन्त में अपने मन में उन्होंने यह प्रतिज्ञा धारण की कि वे अपना रहा सहा जीवन इस जाति के उद्धारार्थ अर्पण करें। जातीय उद्धार के मार्ग पर इस तरह अचल पग धर कर उन्होंने फिर अपनी समस्त इन्द्रियों को अन्दर खींचा और मनन शक्ति से यह सिद्ध किया कि इस जाति की उन्नति के मार्ग में इसकी वर्तमान धार्मिक दशा हिमाञ्चल पर्वत के समान खड़ी है। जिस जाति के बालक, युवक, वृद्ध सब ही यह समझते हैं कि यह संसार असार है, मिथ्या है, झूठा है और उसके समस्त पदार्थ और भोग तुच्छ हैं, वह जाति कभी सांसारिक अवस्था के किसी उच्च पद को प्राप्त नहीं होती। संसार को मिथ्या समझने का भाव संसार के असली रूप के भाव से विरुद्ध है। जो मनुष्य किसी वस्तु को तुच्छ,

निन्दनीय और मिथ्या समझता है वह कभी उस बस्तु की प्राप्ति के लिए अपने मन और चित्त को एकाग्र नहीं कर सकता। वे देखते थे कि पर्वत अपने जीवन में और अपनी प्रभुता में आकाश से सर लगाये हुए अपने अभिमान में ऊंचा खड़ा है; इसपर नाना प्रकार के पुष्प खिले हुए हैं, जिनके रूप और जिनकी सुगन्ध से मनुष्य को सुख मिलता है। वे देखते थे कि पृथ्वी माता नाना प्रकार के अन्न, फल और पदार्थ मनुष्य के भोग और तृप्ति के लिए उत्पन्न करती है, पर्वत से शीतल और मीठे जल की नहरें और नदियां बहती हैं जो प्यास बुझाती हैं और तप्त पृथ्वी को शीतल करती हैं। यह सब देखते और अनुभव करते हुए वे किस तरह मान सकते थे कि यह संसार असार है और उसके सब भोग और पदार्थ मिथ्या हैं। सोचते सोचते उन्होंने निश्चय किया कि यह शिक्षा भीरुपन, आलस्य और निरुत्साह से भरी हुई है; इसी ने इस महान जाति का नाश किया और इसी ने इसको उच्च सिंहासन से उतार कर दासत्व तक पहुंचाया है। इसीने इनको विद्या के उच्चपद से उतार कर अविद्या के गड्ढे में फंसाया है और इसी ने इनको धर्म के महान्, प्यारे और मीठे मार्ग से हटाकर इधर उधर भटकाया है। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि से भारतवर्ष का वह समय देखा जब कि लोग वेदों की सीधी सच्ची स्वाभाविक प्रार्थनाओं से प्रेम करते हुए अपने परमात्मा से बल, बुद्धि, तेज़, ओज,

पराक्रम, धन, विद्या और राज्यादि दिव्य पदार्थों की याचना करते थे और परमात्मा उनकी प्रार्थना पर आशीर्वाद देते थे। उन्होंने अपने देश, जाति और धर्म के प्रेम से भरे हुए मन के विशाल नेत्रों से वह समय देखा जब आर्य्य पुरुष अपने आप को परमात्मा का पुत्र जानकर अपना अधिकार समस्त सृष्टि पर समझते थे. जब वे इस संसार को वास्तविक और उसके समस्त भोग और पदार्थों को परमात्मा की देन समझ कर धर्म के अनुसार, न्याय और नीति के अनुकूल उनसे पूरा लाभ उठाना धर्म समझते थे, जब कि उनको निश्चय था कि हमारे पिता ने हमको इस आश्चर्यमयी सृष्टि में इसलिए उत्पन्न किया है कि हम उसके सब मर्म समझ कर उसके प्रभु बन जायं और जिस तरह से हमारा शरीर, हमारा मन, हमारी बुद्धि और हमारी आत्मा की उससे तृप्ति हो सकती है वह करें। वे लोग यह जानते थे कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता कि वह संसार में पूर्ण बल की इच्छा करता हुआ अपने पिता के समीप सिंहासन पाने का यत्न करे। बलवान, तेजस्वी, प्रकाश-रूप पिता का प्यारा पुत्र वही हो सकता है जिसमें उसके पिता के गुण हों।

संसार में सब प्रकार का बल सञ्चित करना चाहिए चाहे वह शारीरिक हो, चाहे मानसिक या आध्यात्मिक। संसार के मनुष्यों में अधिक से अधिक बलवान होना (जहां तक कि मनुष्य

अपनी शक्ति और अपने पराक्रम और पुरुषार्थ से उपलब्ध कर सकता है) हरएक मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिये। जिस जाति के मनुष्यों का यह उद्देश होगा वह जाति सामाजिक और जातीय अंशों में अवश्य बलवती और तेजस्विनी होगी। जिस जाति के जातीय शरीर में यह विष समा गया हो कि यह संसार झूठा है और इसके पदार्थ और इसका यश और इसकी कीर्ति और इसके भोग ये सब निन्दनीय हैं वह जाति कभी सांसारिक अवस्था में सुखी नहीं हो सकती। ऐसी जाति के लिए तो केवल एक ही उद्देश्य रह जाता है—अर्थात् मृत्यु।

स्वामी दयानन्द ने उन्नति के इस मर्म को अच्छी तरह से समझा। इसलिए उन्होंने अपने जीवन का यह उद्देश्य बनाया कि वह एक बार इस देश के लोगों को शुद्ध वैदिक धर्म का उपदेश करें, जिस से वे लोग संसार के मिथ्या होने के विचार को छोड़ पराक्रम और पुरुषार्थ, तेज और ओज, बुद्धि और मेधा, देशहित और जाति हित, क्रिया और विद्या से जो पदार्थ जाने जाते हैं, इन सबके लिए चेष्टा करें और परमात्मा से इन्हीं वस्तुओं का दान मांगें और परमात्मा के अतिरिक्त और किसी सांसारिक शक्ति का आसरा न ढूंढ़ें। हमको इस बात का अभिमान है कि स्वामी जी ने किसी विदेशी से किसी प्रकार की शिक्षा नहीं पाई। किन्तु जो कुछ देश में हो रहा था उसको उन्होंने देखा और उस पर विचार किया—और अपने ही पूर्व

पुरुषों की शिक्षा से देश और जाति के रोग की औषधि ढूंढ़ी और पाई; उन्होंने फिर से हिन्दू जाति में विश्वास पैदा करने का यत्न किया। कायरता, कमज़ोरी और आलस्य के जो बन्धन थे उनको तोड़ दिया। हिन्दू धर्म के कच्चे तागे को लाहे का तागा बना दिया और उसमें यह शक्ति भर दी कि वह समस्त "कच्चे" तागों को काट दे। हिन्दुओं में उन्होंने यह साहस भर दिया कि वे अपनी जाति से निकले हुए, भागे हुए और पतित भाइयों को फिर अपनी छाती से लगा लें। हिन्दू जाति के कच्चे तागों में उन्होंने यह शक्ति डाल दी कि वह संसार भर के लिए मुक्तिदान करने का साहस करे। हिन्दू धर्म को, हिन्दू सभ्यता को, हिन्दू विद्या को और हिन्दू विचार को उन्होंने एक सड़े हुए पानी के बन्द तालाब से निकालकर चमकते मोती के समान संसार भर के सामने खोल कर रख दिया, जिसका जी चाहे देखे, परखे और उसको ग्रहण करे। हिन्दुओं को उन्होने यह साहस दिया कि वे अपनी उन्नति के लिये केवल अपना और परमात्मा का सहारा ढूंढ़ें। यह सब सत्य है, किन्तु यह भी सत्य है कि हिन्दू जाति के शरीर में फैले हुए विष ने स्वामी दयानन्द के शिष्य आर्य्यसमाजियों को भी ग्रसित कर लिया। आर्य्यसमाजियों ने भी 'पत्था नहीं है रहनावे' आदि भजन गाने आरम्भ कर दिये। आर्य्यसमाजियों ने बालकों के हाथों में उपनिषदें देकर उनकी उठती हुई

बालकों को शुष्क कर दिया है। आर्य्यसमाजियों ने नन्हें नन्हें बालकों को योग विद्या के साधन बताने आरम्भ किये हैं। आर्य्यसमाजियों ने बालकों को खेल कूद के मैदान में से हटा कर उपदेश के सिंहासन पर बैठा दिया उसका फल भी वही हुआ जो होना चाहिए था आर्यसमाजियों का जीवन भी कई अंशों में झूठा जीवन बन गया है। "हाथी के दांत दिखलाने के और और खाने के और" हो गये। पराक्रम, साहस और उत्साह को कायरता के कीड़े ने खोखला कर दिया। यहां तक कि इस समय हमको आर्य्य समाज में भी कायरता और दाम्भिकता प्रधान पद पर बैठी हुई दिखलाई पड़ती है।

(४)

स्वामी दयानन्द के पीछे स्वामी विवेकानन्द महराज ने हिन्दू-जाति के रोग को भली भांति से समझा। हम नहीं कह सकते कि जब वे पहिली बार भारतवर्ष से बाहर गये उस समय उनके विचार क्या थे; परन्तु इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि युरोप और अमेरिका की यात्रा के पश्चात् जब वे अपने देश को लौट कर आये तब उनके उपदेश में हमको वह सारी शिक्षाएं मिलती हैं जो उस विष की औषध हैं जिसका हमने ऊपर वर्णन कर दिया है। स्वामी विवेकानन्द वेदान्त मत के प्रचारक थे, परन्तु उन्होंने अपने वेदान्त से वह विष निकाल दिया था। उनके और उनकी शिष्या स्वर्गीय "भगिनी

निवेदिता' की वाणी में हमको वह सब औषधियां मिलती है जो साहसहीन मनुष्यों में, साहस, आलस और अविश्वास के कीड़ा से खाई हुई जातियों में, विश्वास उत्पन्न करने वाली है। परन्तु इस अभागी जाति की प्रत्येक नस और नाड़ी में वह विष ऐसा घुसा हुआ है कि उसके प्रभाव से बचना अति कठिन देख पड़ता है। हिन्दू नेताओं के सामने जो सबसे बड़ा प्रश्न है वह यह है कि जातीय शरीर से यह विष किस प्रकार निकाल दिया जाय और जाति में स्वावलम्बन और उत्साह किस प्रकार उत्पन्न किया जाय। किसी रोग की औषधि करने से पहिले उसका निदान आवश्यक है। जब तक डाक्टर, वैद्य या हकीम को रोग और उसके कारणों का पता नही लगता तब तक वह अंधेरे में टटोलता है और कई बार ऐसा होता है कि वह अनुचित औषध देकर रोगी के रोग को बढ़ा देता है। हमको प्रायः ऐसा संदेह होता है कि हिन्दू नेताओं की भी ऐसी ही दशा है। हमें अभी तक यह निश्चय नहीं हुआ कि हिन्दू नेताओं को भली प्रकार से अपनी जाति के रोग के कारण ज्ञात हैं! हमारी सम्मति में तो वे बाह्य लक्षणों की चिकित्सा कर रहे हैं। हमें तो उनके मध्य उस बल और विश्वास की कमी प्रतीत होती है जो पूर्ण ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। यदि नेताओं की यह दशा है तो साधारण हिन्दू भाइयों को क्या उलाहना दिया जाय?

हिन्दू सभायें बड़े धूम से बनती हैं। परन्तु उनसे जातीय सुधार का कुछ भी काम नहीं बन पड़ता। "आल इण्डिया हिन्दू एसोसियेशन" का बीज भी नहीं उगने पाता। "हिन्दू विश्व-विद्यालय" के कार्य्य में हम मुसलमान भाइयों के पीछे पीछे चल रहे हैं। हमको तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा वही हाल है:—"मरज़ बढ़ता ही गया ज्यों २ दवा की।"

हमारे हिन्दू नेता अपनी जाति में जोश उत्पन्न करने की चेष्टा न कर उलटे मुसलमानों पर उनके जोश के लिए आक्षेप करते हैं। समाचार पत्र और लेखक जातीय और धार्मिक बल बढ़ाने का यत्न न करके मुसलमानों के जातीय-भाव और उनके धर्म बल पर ताना मारते हैं, शोक! महाशोक!!
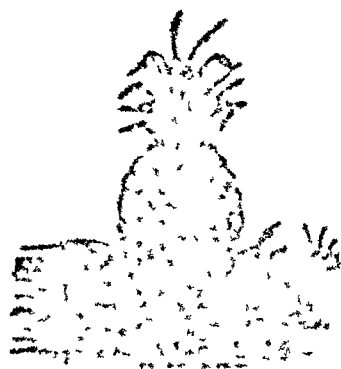
हिन्दुओं की सामाजिक अवस्था ।

संसार के ज्वारभाटे में बहुत सी जातियां दुनियां के किनारे पर आई और चली गई । बाज़ मामूली सी चाल से आईं और पीछे हट गई, किनारे पर इनके कुछ भी चिह्न न रहे। बाज़ तेज़ी से आई और बहुत सी चीज़ों को अपने साथ बहा लाई-कुछ बड़े मूल्य की, कुछ अल्प मूल्य की और कुछ बिल्कुल बेकाम। कालान्तर से बहुतों के नाम और चिह्न भी मिट गये जैसे कि पुराने पर्थियन और और फिनीशियन आदि, और कुछ ऐसी जातियां हुई जिनके मानुषिक चिह्न मिट गये परन्तु उनकी सभ्यता, अनुभव और उन्नति के चिह्न पृथ्वी के नीचे दबे हुए हैं। इन चिह्नों को आजकल की सभ्य जातियां खोद खोद कर अपने अनुभव के कोष को बढ़ा रही है। इनमें बाबुल की जातियाँ और प्राचीन नैनीमिया और मिश्र के निवासी हैं। एक और जाति है जिसकी औलाद अभी बाक़ी है परन्तु बाज़ लोगों की दृष्टि में इनका जीवन मुर्दों से भी गिरा हुआ है और वे केवल सिसक रहे हैं उनमें से एक हम हैं हिन्दू आर्य्य ।

यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन से कारण हैं जिनसे हम आज तक जीवित हैं और जीवित रहे। इन कारणों का पूर्ण रूप से वर्णन करना मेरे आज के विषय से बाहर

है। इस लेख में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि मेरी समझ में इस जाति के जीवित रहने के दो कारण हैं:—एक यह कि हिन्दू जाति ने अपने जातीय अस्तित्व को किसी दूसरी जाति के अस्तित्व में न मिलने दिया और अपने धार्मिक और सामाजिक स्थिति के नित्य नियमों को दृढ़ रक्खा; दूसरा कारण यह है कि वे अपने सामाजिक व्यवहार के नियमों को समय की आवश्यकता के अनुसार बदलते रहे। पहले कथन के उदाहरण धार्मिक विश्वास हैं। जब से इतिहास के चिह्न मिलते हैं हमको कोई समय ऐसा मालूम नहीं जब कि हिन्दुओं ने जातीय स्थिति में परमात्मा का होना, वेदों की आज्ञा पालन करना और कर्म के सिद्धान्त को न माना हो अथवा इनसे विमुख हुए हों।

बौद्ध धर्म के जन्म के बाद थोड़ा समय ऐसा आया जब कि इन पहले दोनों विचारों के उखड़ जाने का यथार्थ भय उप-स्थित हो गया था। परन्तु यह भय निर्मूल निकला क्योंकि सब के हिन्दुओं के पूर्वजों ने जल्दी से वेदों की बड़ाई और धर्म को इस देश में स्थापित कर दिया और बौद्ध धर्म इस देश से प्रायः लोप हो गया। मेरी अपनी सम्मति है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव ने साधारणतः हिन्दुओं में सामाजिक और जातीय शिथिलता उत्पन्न कर दी जिसके कारण हिन्दू अब तक हानि उठा रहे हैं। ख़ैर, जो कुछ हो यह प्रगट ही है कि प्रथम बौद्ध,

धर्म के बाद और फिर मुसलमानों से राजनैतिक संसर्ग के पश्चात् हिन्दू शास्त्रकारों ने हिन्दू लाइफ (जीवन) को बिल्कुल बदल दिया। इनमें से कई बदलाव तो हमारे दुःखों का कारण बन गये हैं और कइयों ने हमारी रक्षा की है। मैं इस समय यह वादानुवाद नहीं करना चाहता कि पहले कौन से हैं और दूसरे कौन से, क्योंकि आज मैं इस विषय के एक विशेष अङ्ग पर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं और यह जाति-पांति का सामाजिक बन्धन और छूतछात है। जो मनुष्य कुछ भी हिन्दुओं के पुराने शास्त्रों से, जिनको सूत्र कहते हैं, परिचित हैं वे जानते हैं कि सूत्र ग्रन्थों में जो हिन्दुओं की आधुनिक स्मृतियों के मूल हैं कहीं भी छुआछूत का वर्णन नहीं है। समय के विचार से यदि आप पीछे दृष्टि डालें तो आप इन बातों का पुराने सूत्रों में कम वर्णन पायेंगे। उदाहरणार्थ हिन्दुओं के धर्म सूत्रों में जिनमें से पाराशर एक है और जिसको हम सब मानते हैं आपको इस बात का वर्णन कहीं नहीं मिलेगा कि आर्य्य हिन्दू में खानपान का कोई भेद था जहाँ पर किसी बात का ग्रहण अथवा निषेध है वह सबके लिए है यहाँ तक कि एक स्थान में शूद्रों से रसोई के काम लेने का विशेष रूप से वर्णन है। मुझे खेद है कि इस समय मेरे पास वे पुस्तकें नहीं हैं नहीं तो मैं आपको इसका प्रमाण देता।

ब्राह्मण तो सदा इस जाति में ऊंचे ही चले आये हैं। परन्तु

अनेक कर्त्तव्यों की जो सूची शास्त्रों में दी है उसमें कहीं नहीं लिखा है कि रोटी पकाना उनका काम है। रोटी पकाना सेवा का काम है। ब्राह्मण लोग जाति के मानसिक तथा आत्मिक लीडर (अगुवा) थे। पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, उनके काम थे। उनका काम यह था कि वे जाति के लिए विचार करें। शास्त्र पढ़ें, बतावें और पढ़ावें। भला रोटी पकाना कौन उच्च काम था जो जाति उनको सौंपती या वे आप ही उसे स्वीकार करते। मनुष्यों में जैसे मन और बुद्धि को ऊंची से ऊंची पदवी है, उसी तरह जाति में ब्राह्मणों के लिए सबसे उच्च स्थान था। वे जाति के पथ-प्रदर्शक थे। यह असम्भव और मर्यादा के विरुद्ध था कि उनसे सेवा का काम लिया जाता। सेवा करना शूद्र का काम था और रोटी का बनाना भी सेवा है। इस कारण यह काम भी शूद्रों का था।

हम नहीं कह सकते कि ब्राह्मणों ने यह काम कब ग्रहण किया। परन्तु सम्भव है कि जिस समय देश में मुसलमानों के आने से राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे उसी समय में किसी राजा महाराजा का यह विचार हुआ हो कि वह सिवाय अपने पुरोहित के और किसी से शुद्ध और स्वच्छ भोजन की आशा नहीं कर सकता। आप जानते हैं कि राज-विप्लव के समय राजकर्मचारियों को यह चिन्ता रहती है कि ऐसा न हो कोई शत्रु, जो और किसी प्रकार पराजय नहीं कर सकता,

उनके सेवकों को मिला कर उनको ज़हर खिलवा दे। ऐसे समय में खाने की रक्षा के लिए राजा महाराजों को विश्वास पात्रों की ज़रूरत होती है। मैं नहीं कहता कि यह मर्यादा इसी तरह प्रचलित हुई किन्तु सम्भव है कि किसी बड़े राजा ने ऐसा किया हो, उसकी देखादेखी औरों ने भी उसका अनुकरण करना आरम्भ कर दिया हो जिस से क्रमशः रसोई बनाना ही ब्राह्मणों का काम हो गया और इस कारण ब्राह्मणों ने पढना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना छोड़ दिया हो।

आजकल तो आप देखते हैं कि ब्राह्मण जाति की दशा बहुत ही बुरी है। ब्राह्मण न केवल रसोई करते बल्कि देश में बाबू लोगों के जूते और बर्तन साफ़ करते हैं, उनके जूतों पर रोगन करते हैं और जूते पहनाते है इत्यादि इत्यादि। यहाँ पहाड़ में भी उच्च से उच्च ब्राह्मण खेती करते हैं, मज़दूरियां करते हैं और डाड़ियाँ उठाते हैं। कौन कह सकता है कि जो ब्राह्मण ऐसा करते हैं वे शास्त्र कथनानुसार शूद्र पदवी को नहीं प्राप्त हो गये हैं।

जब ब्राह्मणों की यह दशा है तो क्षत्रियों का और वैश्यों का तो कहना ही क्या है? एक समय था जब कि क्षत्री कन्याएं स्वयम्बर की रीति से वर छांटती थीं और क्षत्रियत्व के गुण देखकर पति स्वीकार करती थीं। एक समय था जब क्षत्री अपनी कन्याओं के सत् की रक्षा के लिए रक्त की नदियां बहा

देते थे, अपनी और दूसरों की जानें एक कर देते थे। किसी की क्या शक्ति थी कि कोई मनुष्य क्षत्री कन्या पर बुरी दृष्टि से देख जावे। चित्तौड़ के महाराज ने अपनी धर्मपत्नी पद्मिनी की रक्षा के लिए अपने नेत्रों के आगे न केवल अपने ११ पुत्र मरवा दिये वरन् अपनी भी जान दी और सहस्रों भाइयों और वीरों के रक्त से राजपूताना के मैदान को लाल बना दिया। यही नहीं उनकी धर्मपत्नी और उसकी सहेलियों ने अपने सत् की रक्षा के निमित्त प्राणों को तुच्छ समझते हुए अपने कोमल शरीर जलती हुई अग्नि को अर्पण कर दिये। राजपूताना के इतिहास और हिन्दुओं के तवारीखों में एक नहीं बीसों ऐसी घटनाएं भरी पड़ी हैं। एक समय यह था, फिर वह समय आया कि कितने ही राजा महाराजों ने राजनैतिक ज़रूरतों के सामने सिर झुका अपनी बेटियां मुसलमान बादशाहों को देनी शुरू कीं। हिन्दू शास्त्रकारों ने जिस हेतु जाति-पांति के नूतन बन्धनों और छुआछूत के बड़े पहाड़ को बनाया था वह शनैः शनैः गिरना आरम्भ हुआ जिससे आज राजपूत (हा, मुझे कहते हुए लज्जा आती है) अपनी लड़कियों को बेचते हैं और दुर्दशा को प्राप्त हो गये हैं। इतना ही नहीं उनमें से कुछ अपनी प्यारी पुत्रियों को न केवल अपने से छोटी जातियों के हाथ वरन् मुसलमानों के हाथ बेंच डालते हैं और बाज़ उनमें से अपनी लड़कियों को वेश्या बना देते हैं। मैं प्रायः पहाड़ी

प्रदेश में आता हूं। पहाड़ के ब्राह्मण और क्षत्रियों की इस दुर्दशा को देखकर मैं विह्वल हो जाता हूं और मेरे हृदय से से धुआँधार सासें निकलती हैं। हा! ब्राह्मण और क्षत्रिय जो इस जाति और देश के मस्तिष्क और भुजा थे, जो इस जाति के व्यवस्थापक थे, जो जाति के आधार और स्तम्भ थे, जो जाति की रक्षा करते थे, जो सिंहासन पर बैठते थे, जो सेना-पति और जेनरल थे, जिनके बल और पराक्रम की स्तुति में कवियों ने सहस्रों पन्ने काले कर दिये और अपनी कविता समाप्त कर दी, आज वे ही ब्राह्मण और क्षत्रिय डांड़ियां उठा-कर, बोझा ढोकर अपना गुज़ारा करते हैं। इतना ही नहीं उनमें से बहुतों को ज़रूरत ने ऐसा निर्लज्ज कर दिया है कि वे अपनी पुत्रियों को विधर्मियों के हाथ बेच डालते या वेश्या बना डालते है।

यह सब है किन्तु इतने पर भी उनके जात्यभिमान की कोई सीमा नही। यह कीड़ा उनके दिमाग़ से नहीं निकलता कि हम ब्राह्मण और क्षत्री हैं और छोटी जातियों को यह अधि-कार नही कि वे हमको छू सकें। इस अवसर पर मैं एक प्रश्न करता हूं। जिस समय ब्राह्मण या क्षत्री बोझा उठाता है या डांड़ी उठाता है क्या वह पूंछता है कि बोझेवाले की या डांडी में बैठने वाले की जाति क्या है? आजकल ज़माना पश्चिमी प्रकाश का है। कितने ही हमारे चमार और भङ्गी भाई पढ़ गये

हैं। हमारे प्रान्त में रामदर्शिंव, मझवी, सिक्ख ऐसे ऐसे हैं जो अच्छे अच्छे फौज़ी ओहदों पर हैं। वे भी ऐसे ही अछूत हैं जैसे आपके पहाड़ के डोम और लोहार। अब कहिये कि इनमें से कितनों की डांड़ियां, पुरोहित जी व ठाकुर जी व महाराज उठाते हैं? ये उनसे उनकी जाति कभी भी नहीं पूंछते वरन् सैकड़ों बार उनको महाराज महाराज, बाबू साहब बाबू साहब, या साहब साहब कह कर उनसे बक्सीस मांगते हैं, उनकी शराब की बोतलें उठाकर चलते हैं, उनके गोश्त के डब्बे अपने कन्धों पर उठाते हैं इत्यादि इत्यादि।

पाठकगण! मैं मज़दूरी करने को बुरा नहीं समझता हूं। मेरे हृदय में उस मनुष्य के लिए सच्ची भक्ति है जो अपने हाथ की मज़दूरी से अपने और अपने बच्चों का पालन करता है। मज़दूरी न करने का अभिमान झूठा अभिमान है। ईमान्-दारी से मेहनत और मज़दूरी करना बहुत अच्छा है चाहे वह मेहनत और मज़दूरी कैसी ही क्यों न हो। मेरे विचार में ईमान्दार मज़दूर बेईमान रिश्वत लेने वाले और दुष्ट डिप्टी कलक्टर से बहुत अच्छा है। जिस समय परमात्मा के निकट ये दोनों जावेंगे परमात्मा न उनकी जाति पूंछेंगे और न सांसा-रिक ओहदे का विचार करेंगे बल्कि उनके धर्म कर्म के अनु-सार उनको दर्जा देंगे। ईमान्दारी से कमाया हुआ धन जिस को हिन्दू शास्त्र शुद्ध अन्न कहता है धर्म का सब से बड़ा

और ज़रूरी अङ्ग है। अन्न की शुद्धि से केवल यही अर्थ नहीं है कि अन्न धो लिया जावे और साफ़ कर लिया जावे। अन्न की शुद्धि का यह आशय नहीं है कि उस पर किसी अछूत जाति की छाया न पड़ी हो वरन् अन्न की शुद्धि का तात्पर्य यह है कि वह पैसा जिससे अन्न ख़रीदा जाता हो ईमान्दारी से धर्मानुसार पैदा किया गया हो और उसमें किसी प्रकार की बेईमानी, विश्वासघात अथवा अनाचार की कालिमा की रेखा न हो। इसलिए मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैं उन ब्राह्मणों और क्षत्रियों की निन्दा नहीं करता जो मज़दूरी से और मेहनत से अपना और अपने बच्चों का पालन करते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अब जात्यभिमान और छुआछूत के विचार का समय नहीं रहा है। ऐसी दशा में हमें उचित है कि हम अपने पूर्वजों की भांति सामाजिक नियमों की परताल करें और अपनी सामाजिक विधि व सामाजिक संगठन और सामाजिक सुधार को अपने धर्म के नित्य नियमों के परते में आवश्यकतानुसार बदल दें।

समय बड़ा टेढ़ा और सख़्त मास्टर है। उस से बचना असम्भव है। बुद्धिमानी इसी में है कि हम अपने धर्म और सभ्यता के वास्तविक तत्व को न छोड़ें। प्राचीन वैदिक धर्म के भाव को क़ायम रक्खें किन्तु सामाजिक अवस्था में समयानुकूल परिवर्तन कर लें। यदि आप तनिक अपनी नूतन

सामाजिक अवस्था पर दृष्टि डालें तो आपको ज्ञात हो जायगा कि समय आप से परिवर्तन करा रहा है। आप लोग रेल में सवार होते हैं जिसमें सभी जाति के लोग पैसा देकर सवार होने का अधिकार रखते हैं। आप लोग विधर्मियों के हाथ की बनाई हुई दवाइयां काम में लाते हैं, सोडा लेमनेड पीते हैं। सब लोग एक ही नल से पानी लेते हैं। यह तो उन लोगों का वर्णन है जिनका बाहरी सदाचार बना हुआ है और जिनकी ज़ाहिरी छूतछात बनी हुई है। परन्तु कितने टीकाधारी ब्राह्मण क्षत्री और वैश्य ऐसे हैं जो फ्रांस, इटली और हिन्दुस्तान की बनी हुई मदिरा पीते हैं, जो यदि पावें तो आंख बचाकर मुसलमान ख़ानसामों के हाथ का पका हुआ खाना खा लें। उनका तो कहना ही क्या है जो होटलों का खाना खाते हैं। मज़ा तो यह है कि वे भी जो विलायत के आये हुए खाने का बक्स ख़रीदते हैं और उसका आनन्द लेते हैं, सब कुछ करते रहने पर भी जाति बिरादरी में शामिल हैं और बिरादरी की पञ्चायतों में बैठ कर दूसरों को बिरादरी से निकालने की सम्मति देते हैं, और अपने भाई हिन्दुओं की अछूत या नीच जातियों से परहेज़ करते हैं।

मुझे एक पञ्जाबी डाक्टर ने, जो इण्डियन मेडिकल सर्विस के मेम्बर हैं और कप्तान हैं, एक हास्यपूर्ण कथा सुनाई। कुछ साल हुए वे मद्रास में तैनात थे। उनके मकान पर मद्रास के

बड़े बड़े आदमी आते थे। एक दिन का ज़िक्र है कि उनसे भेंट करने के लिए मद्रास का एक बड़ा ब्राह्मण नेता आया। उनकी पञ्जाबी स्त्री ने जो जाति की खत्रानी थी मद्रासी नेता का चाय से आतिथ्य करना चाहा परन्तु उन्होंने अस्वीकार किया। जब डाक्टर साहब और उनकी स्त्री ने उनसे कुछ खाने के लिए ज़िद्द की तो उन्होंने कहा कि "मैं अपने देश की प्रथा के अनुसार आप के घर का भोजन नहीं कर सकता।" अन्त में डाक्टर की स्त्री ने सोडा ह्विस्की प्रदान किया, जिसको हमारे ब्राह्मण लीडर ने स्वीकार कर लिया। ऐसी सैकड़ों बातें रोज़ होती हैं। मुझे क्षमा कीजिये, कितने ही टीकाधारी ब्राह्मण और वैश्य ऐसे हैं (मैदान में भी और पहाड़ में भी) जो वेश्याओं के संग से अति नीच हो गये हैं। परन्तु ये अपनी बिरादरी में शामिल हैं। ऐसी अवस्था में मुझे बतलाइये कि यह मक्कारी और दग़ाबाज़ी कब तक चलेगी और क्या कोई जाति जो ऐसे मनुष्य की सामाजिक मक्कारी को जायज़ ठहराती है कभी भी सदाचार, धर्म या सामाजिक सुधार में उन्नति कर सकती है। धर्म का पहला रंग अन्दर और बाहर से एक होना है। हिन्दू धर्म सत्य के टीले पर खड़ा हुआ है। सच्चाई, सत्य, शुद्धता और सदाचार उसके पहले नियम हैं। जो लोग अपने जीवन से उनको दूर कर या उनसे अलग रहकर धार्मिक बनना चाहते हैं वे धर्म की खिल्ली करते हैं और धर्म की हंसी उड़ाते हैं।

वे अपनी आत्मा और बुद्धि को धोखा देते हैं और यह समझते हैं कि उनके इस धोखा देने से उनका परमात्मा भी प्रसन्न हो जाता है। किन्तु सच तो यह है कि वे अपने लोक परलोक दोनों को ही बिगाड़ते हैं। पहली बात जो मैं आपके हृदय में अङ्कित किया चाहता हूं वह यह है कि सच्चा बनने के लिए, धार्मिक बनने के लिए, यह ज़रूरी है कि जिस सामाजिक मक्कारी को आजकल हमने अपनाया है उसको हम छोड़ दें। और जो बातें आजकल नहीं निभ सकतीं उनका त्याग करदें। जैसा मैंने ऊपर कहा, मैं नहीं कह सकता हूं कि हिन्दुओं में यह छुआछूत कैसे आरम्भ हुई। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इसको इस दर्जे तक पहुंचा दिया कि आखिरकार वह उनकी कमज़ोरी और फूट का कारण हो गई और हो रही है। जिस दर्जे तक हिन्दू छूतछात को ले गये वह अस्वाभाविक और अत्यन्त हानिकारक है।

संसार में आदमी का आदमी के बिना रहना नहीं हो सकता। प्रथम तो किसी आदमी से इस दर्जे तक घृणा करना कि उसके जन्म के कारण ही उसको अछूत बना देना और उसकी छाया से और उसके छूने से परहेज़ करना अत्यन्त बुरा है। दूसरे एक ही धर्म, एक ही जाति, एक ही कैंप और एक ही परिवार में रहकर एक दूसरे से परहेज़ करना प्रीति, प्रेम और सहानुभूति के रास्ते में पहाड़ खड़ा करना है। मनुष्यों

प्रेम एक दूसरे के निकट आने से बढ़ता है। जितना हम
क दूसरे से दूर होते हैं उतना ही हम में फूट, झगड़ा, फ़साद
ौर पारस्परिक अनबन फैलती है। आज हम सब इस बात
ा उलहना देते हैं कि हिन्दुओं में पल्ले दर्जे की अनबन है।
ाइयो इसमें आश्चर्य की बात ही कौन सी है? जिस जाति
पुत्र माता के हाथ का, माता पुत्री के हाथ का, पिता पुत्र
हाथ का, भाई भगिनी के हाथ का, पति पत्नी के हाथ का
ौर पत्नी पति के हाथ का पका हुआ खाना नहीं खा सकते,
ानका खाना, एक दूसरे के छू जाने से या एक की दूसरे पर
ाया पड़ जाने से या एक का दूसरे के दर्शन हो जाने से, अप-
ित्र और भ्रष्ट हो जाता हो उस जाति में मेल कैसे हो सकता
? कल ही मुझे एक गढ़वाल के भाई सुना रहे थे कि कुछ
समय हुआ उस ज़िले के एक राजपूत समाज में ऐसी चाल
ी कि मर्द किसी स्त्री के हाथ का खाना नहीं खाते थे—न माता
ा, न बहिन का और न अपनी पत्नी का। वे अपना खाना
आप पकाते थे। देखिये इसमें कितना समय नष्ट होता होगा।
जिस जाति को अपने समय का विचार नहीं और जो अपने
गिरोहों और जमातों में काम के बांटने का ढङ्ग नहीं जानती वह
स्वभावतः हानि उठाती है। जिस जाति के विद्यार्थियों और
गृहस्थ को अपना अपना खाना बनाना पड़ता है उनकी सांसा-
रिक उन्नति कैसे हो सकती है? आजकल के ज़माने में वक्त

रुपया है, विद्या है और बल है। इसका अनर्थ व्यय करना महापाप है। अतएव परमेश्वर के वास्ते इस छूतछात को छोड़ो। जब तक तुम इसको न छोड़ोगे तुम्हारे भीतर न मेल होगा, न प्रेम होगा, न प्रीति होगी और न तुम्हारी उन्नति होगी। हिन्दू जाति में आपस में प्रेम, आपस में सहानुभूति और मेल पैदा करने के लिए यह आवश्यक है कि ये लोग हिन्दू मात्र को एक शरीर के अङ्ग समझें और किसी को अछूत न समझें। लज्जा का स्थान है कि हिन्दू अछूत सिर्फ़ उस समय तक अछूत रहता है जिस समय तक वह हिन्दू है। ज्योंही वह हिन्दूपन छोड़कर मुसलमान या ईसाई हो जाता है उसी वक्त उसका अछूतपना भाग जाता है और हिन्दू उसीसे हाथ मिलाना और उसको छूना आरम्भ कर देते हैं। इसी का एक फल यह है कि सहस्रों अछूत हिन्दू, मुसलमान और ईसाई होते जाते हैं और हिन्दुओं की संख्या दिन पर दिन कमी पर है। अतएव धर्म, प्रेम और ऐक्य के हेतु हमें अछूत जातियों से घृणा और परहेज़ करना छोड़ देना चाहिए। मैं मानता हूं कि जो द्वेष और घृणा जातियों के हृदय में अङ्कित है उसका सहसा मिटना मुश्किल है तथापि तमाम भाइयों को उद्योग करना चाहिए कि यह दूर हो जावे और यदि आप में से बाज़ लोग इतना उत्साह नहीं रखते कि इन बन्धनों से मुक्त हो जायं तो कम से कम उन लोगों के तो वे गले न पड़ें जो मनुष्य धर्म

के पालन और जातीय धर्म की रक्षा में आर्य जाति के उन गिरे हुए बच्चों को सहारा देकर उठाने का और अपने साथ मिलाने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ पर मैं आपको यह भी बतला देता हूं कि हिन्दू शास्त्रों में जाति है और यज्ञोपवीत है और अन्य लोगों को यज्ञोपवीत देने की विधि का भी अच्छी तरह से वर्णन किया है। जो हिन्दू इतिहासवेत्ता हैं उनको अच्छी तरह मालूम है कि प्राचीन आर्य लोगों ने, सीथियन, हूण और अन्य जातियों को, जो पश्चिम से आकर आर्यों में मिल गई थीं, किस तरह से अपना धर्म कर्म देकर अपने साथ मिलाया और उनमें से बाज़ को ब्राह्मण और बाज़ को क्षत्री की पदवी दी। दक्खिन में इन्ही आर्यों ने बहुत सी अनार्य जातियों को शिखा सूत्र देकर आर्य बना लिया। दक्खिन के सब ब्राह्मण आर्य जाति के नहीं हैं। शास्त्रों में अनेक प्रमाण इस विषय के मौजूद हैं कि ब्राह्मणों ने अन्य जातियों को कर्मानुसार यज्ञोपवीतादि देकर द्विज बना लिया। एक वह समय था कि जब ब्राह्मण को जो छूता था और जो उनके निकट आता था वह तर जाता था और ऊंचा हो जाता था। शोक का स्थान है कि आज ब्राह्मण नीची जाति वालों से छू जाने पर स्वयं अपवित्र हो जाते हैं और उनको स्नान करने की आवश्यकता पड़ती है। पारस का धर्म है कि लोहे को सोना बना देवे न यह कि सोना लोहा हो जावे। ब्राह्मण किसी समय पारस के समान थे उनके

साथ लग जाने से लोहा सोना हो जाता था। आज ब्राह्मणों को अपने अन्दर ऐसी अश्रद्धा पैदा हो गई है कि वे लोहे के साथ लगने से स्वयं लोहा हो जाते हैं। पाराशर सूत्रों में उन लोगों को यज्ञोपवीत देने का विधान है जो स्वयं या कई पीढ़ियों से यज्ञोपवीत-हीन होने के कारण "व्रात्य" बन जाते हैं।

प्राचीन समय के ब्राह्मणों को अपने में, अपने शास्त्रों में, अपने धर्म में और अपने वेद में इतनी श्रद्धा थी कि वे पतित से पतित मनुष्य को और नीच से नीच जाति को अपने धर्म का उपदेश करके और गायत्री का जाप बताकर शुद्ध कर लेते थे। जिस प्रकार मुसलमानों के कल्मे और ईसाइयों के बपतिस्मे में इतना बल है कि वे उनको जो मुसलमान और ईसाई नहीं हैं शुद्ध करके ऊंचा कर देते हैं, इसी तरह आर्य लोगों की गायत्री में इतना बल था कि जो आर्य नहीं थे उनको वे आर्य बना लेते थे। गौतम ऋषि के पास जाकर महाराज सत्यकाम ने ब्रह्मोपदेश मांगा। ऋषि ने कहा तुम्हारा वर्ण क्या है, तुम किसके पुत्र हो क्योंकि ब्रह्मोपदेश का अधिकारी केवल ब्राह्मण ही है। सत्यकाम ने कहा महाराज मुझे नहीं मालूम मेरा वर्ण क्या है और मेरा पिता कौन था, मैं जाता हूं अपनी माता से पूछ आता हूं। एतदर्थ सत्यकाम लौटकर अपनी माता के पास गया और माता से उसने यह प्रश्न किया, कि मेरा पिता कौन है और मैं कौन वर्ण से हूं। माता ने आँख नीची करके

कहा, "पुत्र मुझे मालूम नहीं कि तुम्हारा पिता कौन था क्योंकि युवावस्था में निर्धन होने के कारण मैं कुलटा थी।" सत्यकाम ने वापस जाकर महाराज गौतम से यही कहा। इसके सुनते ही जो और ब्रह्मचारी लोग वहां बैठे थे वे उससे घृणा करने लगे परन्तु महाराज गौतम ने उठकर सत्यकाम को गले लगाया और कहा "ब्राह्मण वह है जो सत्य बोले तुम इस कारण ब्राह्मण हो और उपदेश के अधिकारी हो, आओ मैं तुम को शिक्षा दूंगा।" इसी प्रकार की और बीसों कथाएं और घटनाएं हिन्दू शास्त्रों में भरी पड़ी हैं जिनसे यह मालूम होता है कि प्राचीन समय में गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार लोग जातियों में विभाजित होते थे। पुराणों में कई कथाएं इस भांति की हैं जिनमें चांडाल माता पिता से उत्पन्न हुए मनुष्य अपने कर्मों के बल से न केवल ब्राह्मण ही हो गये वरन् ब्रह्मर्षि की पदवी को प्राप्त हुए। यह शास्त्र के प्रमाण हमारे सन्मुख हैं जो हमको आज्ञा देते हैं कि जो लोग किसी प्रकार का कभी द्विजों का काम करते हैं हम उनको गायत्री का उपदेश देकर द्विज बना लें। शास्त्र कहते हैं कि जो लोग शिल्पकारी करते हैं, सुनार, लोहार, कसेरे आदि का काम करते हैं, वे सब वैश्य हैं और यज्ञोपवीत के अधिकारी हैं। बाक़ी रहा उनके साथ खानपान, शादी करना या न करना, इसका प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है। कोई किसी को ऐसा करने या न करने के लिए बाध्य नहीं

करता। हिन्दुओं की उच्च जातियां तक भी एक दूसरे के साथ खानपान, शादी का व्यवहार नहीं करतीं और जब तक उनके अन्दर से यह बन्धन न टूट जावे, हम आशा नहीं कर सकते कि ये लोग अछूत जातियों के साथ ऐसा व्यवहार करने लग जायंगे। परन्तु जिन लोगों में आत्मिक बल है उनको कौन रोक सकता है? क्या हमको मालूम नहीं कि बहुत से टीका-धारी साहूकार मैदान से आकर डोम जाति की लड़कियों को रुपया देकर ले जाते हैं और उनसे विवाह करके उनको अपनी स्त्रियां बना लेते हैं। उच्च से उच्च ब्राह्मण उनके घरों में जाकर भोजन करते हैं। हिन्दू अछूत जातियों की गणना इतनी अधिक है कि उनके उद्धार के बिना आपका उद्धार हो ही नहीं सकता। इन प्रान्तों की कुल जन-संख्या चार करोड़ ७१ लाख में से सवा करोड़ अछूत हैं। अलमोड़े के ज़िले में १६०१ की मर्दुमशुमारी में ४॥ लाख की जन-संख्या में १ लाख डोम थे। प्रायः इतनी ही संख्या इन लोगों की नैनीताल के ज़िले में होगी। अब आप सोच लें कि अगर आप इन लोगों का उद्धार नहीं करेंगे और उनसे छूतछात नहीं छोड़ेंगे तो ये क्यों आपके साथ रहेंगे और यदि ये आप से चले गये तो आप की संख्या को, आपके बल को, आपके धन को कितनी हानि पहुंचेगी। इस कारण मुझे तो यही धर्म मालूम होता है कि इन लोगों की सहायता की जाय, इनको विद्या-दान दिया जाय, इनमें स्वच्छता और पवित्रता पैदा करने का प्रयत्न किया जाय जिससे हमारे साथ रहकर ये हमारे गौरव के कारण बन सकें।

———:※:———

क़ौमी सरगर्मी की रूह ।

मेरे प्यारो ! मैं आज पाश्चात्य जातियों के एक ऐसे गुण की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूं जिसकी न्यूनता हिन्दुओं में दिखलाई देती है। पाश्चात्य जातियों में एङ्लो सैक्शन वंश के लोगों में विशेषतः वह गुण पाया जाता है, जिसको अंग्रेज़ी में 'अरनेस्टनेस' (कार्यतत्परता) कहते हैं। खेद है कि मुझे हिन्दी या उर्दू का कोई ऐसा शब्द मालूम नहीं जो इस शब्द के सम्पूर्ण अर्थों का बोधक हो। कुछ लोग इसका अनुवाद 'सरगर्मी' करेंगे, पर मैं नहीं कह सकता कि इस शब्द से अरनेस्टनेस के सब पहलू प्रकट हो सकते हैं। अरनेस्टनेस, स्वभाव के उस गुण का नाम है, जो मनुष्य को पूर्णतया अपने ऊपर निर्भर करने को बाध्य करता है, जो मनुष्य हृदय में उस महत् आकांक्षा को उत्पन्न करता है, जिससे मनुष्य अपने विचारों और प्रयोजनों में सिद्धि प्राप्त करने के लिए कठिन से कठिन प्रयत्न करने को तैयार रहता है। यह वह गुण है जो उनको सभी कार्यों पर काबू पाने के लिए विचलित करता है जो उनके कार्यसिद्धि के मार्ग की रुकावटों, अकृत कार्यकर्ताओं और पराजय के शब्दों को उनकी जिह्वा पर नहीं आने देता और जो जीवन के किसी भी पल में उनके जीवनोद्देश्य को नहीं भूलने देता। युरोप में यह सरगर्मी जीवन के प्रत्येक विभाग में

दिखाई देती है। यही वहां की सफलता का रहस्य है। निजी मामलों और सामाजिक कारबारों में तथा राजनीति, समाज-सुधार, धार्मिक-जीवन, उद्योग आदि में और स्टेज आदि सभी स्थानों में आपको इसके प्रमाण मिलेंगे। इसीसे वे लोग जिस कार्य को करते हैं, पूरे चाव, तत्परता और हृदय से करते हैं। उनका कहना है कि कर्तव्य कर्म भले प्रकार करने योग्य है। चाहे वह निजी हो, चाहे अपनी उन्नति, अपने आराम, स्वास्थ्य अथवा अपने मनोरञ्जन से सम्बन्ध रखता हो, चाहे उस का सम्बन्ध हमारे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक कर्तव्यों से ही हो। उनका स्वभाव उनको इस बात पर बाध्य करता है कि जब वे किसी अन्य व्यक्ति अथवा जाति के विषय में दिलचस्पी लें, तो पूरी तरह से ही लें। इसके लिए वे अपना समय और धन व्यय करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते और इस के लिए कभी कभी वे हानि भी सह लेते हैं। मुझे कई ऐसे प्रसिद्ध अंगरेज़ों से परिचित होने का गौरव प्राप्त है, जिन्होंने हिन्दुस्तान, मिश्र, ईरान या रूस के यहूदियों, अफ्रिकनों या अमेरिकन हबशियों के स्वत्वों की रक्षा के लिए केवल अपना धन ही नहीं व्यय किया वरन् स्वजातियों के अन्याय भी सहन किये हैं। इनमें से एक का हाल आप को सुनाता हूं, वे मेरे मित्र हैं और इङ्गलैण्ड में बैरिस्टरी करते हैं। वहां के नियमानुसार बैरिस्टरों की सफलता बहुत कुछ सालिसिटरों की सहा-

यता पर निर्भर है। जिस समय उन्होंने दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेज़-बोअर युद्ध के विरुद्ध अपना स्वर उठाया, उस समय सालिसिटरों ने उन्हें मुक़दमें देना छोड़ दिया। तत्पश्चात उन्होंने भारतीय प्रश्नों पर विचार करना और भाग लेना आरम्भ किया।

बोअर-युद्ध के विरुद्ध बोलने से उनको जो हानि उठानी पड़ी थी वह इससे और भी बढ़ गई। उनकी आय, व्यय से भी कम हो गई परन्तु वे एक इञ्च भी न डिगे। युरोपियन सरगर्मी का यह गुण है कि वह विरोध और अड़चनों से और भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत हिन्दू-स्वभाव पर इसका असर दूसरा पड़ता है। तनिक सी हानि से ही वह कर्तव्य कर्म को छोड़ देता है। हमारे जीवन के किसी विभाग में भी वह तत्परता, दृढ़ता और उमङ्ग नहीं है, जो सच्ची श्रद्धा से उत्पन्न होती है। इस कथन से मेरा यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दू, इन गुणों से नितान्त कोरे हैं; किन्तु बात यह है कि हिन्दू, अपने सिद्धान्तों और विश्वासों के लिए बलि चढ़ने को तैयार नहीं होता, उसकी तत्परता दूसरे प्रकार की होती है, यह वही सरगर्मी और सच्ची उत्तेजना है जिसके प्रभाव से अगणित हिन्दू, घर छोड़कर, धन, ठाट बाट और उच्चपद पर पदाघात कर वैरागी हो जाते हैं। महाराजा हरिश्चन्द्र, महाराज रामचन्द्र, महात्मा बुद्ध, महात्मा शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट,

प्रयत्न जाति के प्रतिकूल तो नहीं है। एक बड़ी संख्या तो निजी उन्नति के लिए इतनी प्रयत्नशील है कि चाहे जाति पर कुछ ही क्यों न बीते, उन्हें उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं। मेरे इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि हिन्दू स्वभाव में जाति को नैतिक बल प्रदान करनेवाली सच्ची 'सरगर्मी' की न्यूनता है। अब प्रश्न यह है कि यह कमी किस प्रकार पूर्ण की जाय। स्मरण रहे कि हमारे देश की आबोहवा भी इसकी बहुत कुछ ज़िम्मेवार है। इस पर भी हमारे शास्त्रों में इस कमी को पूर्ण करने के साधन बतलाये गये हैं। मेरा विश्वास है कि यदि हम आंखें खोलकर युरोपीय सभ्यता के उजाले में पूर्वजों के बतलाये हुए इन साधनों को जीवन का एक भाग बना लें तो हमारी बीमारी का बहुत कुछ इलाज हो जाय। सब से पहिला इलाज ब्रह्मचर्य धारण है। हिन्दू नवयुवकों को इसकी बड़ी आवश्यकता है। वीर्यनाश से जो दौर्बल्य पैदा होता है, वह कूवत और इरादे को बहुत कम कर सत्य के लिए आग्रह पैदा नहीं होने देता। जहां ब्रह्मचर्य का धर्म वीर्यरक्षा है, वैसेही कड़ी ज़िन्दगी बिताना भी आवश्यकीय है। ब्रह्मचारी को जैसे धार्मिक मक्कारी आदि से बचाना आवश्यक है वैसे उन्हें जिह्वा के चस्के से भी बचाने की ज़रूरत है, कारण यह शरीर को ढीला कर विलासी बना देता है। यहां पर एक विचित्र उलझन पैदा होती है। कुछ भारत हितैषी समझते हैं कि हिन्दू

जीवन का उद्देश्य इतना नीचा है कि उनका हृदय सांसारिक उन्नति की अभिलाषा का विरोधी है। इसलिए हिन्दुओं को उन्नतिपथ पर लाने के निमित्त उनमें जीवन को उच्च बनाने की, अभिलाषा उत्पन्न करना आवश्यक है जिसमें वे अभिलाषा पूर्ण करने के लिए संसार में जीवन संग्राम करने की योग्यता पैदा कर सकें। दूसरा दल कहता है कि ऐसा न हो कि इससे हम प्रकृति की उपासना की ओर झुक पड़ें और जो थोड़ी बहुत अध्यात्मिकता शेष है, वह भी जाती रहे। मैं यह स्वीकार करता हूं कि यह प्रश्न सहज नहीं है। इसपर सम्मति प्रकट करना आसान नहीं। तथापि मेरा विचार है कि इन दोनों दशाओं में भी यह आवश्यक है कि जीवन की तैयारी का समय साधनयुक्त और तपस्या भाव से पूर्ण हो। तपस्या का यह अर्थ नहीं कि नवयुवकों की आवश्यकताएं पूर्ण न की जायं और जो वस्तुएं उनके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं, एकत्र न की जायं, अथवा यह कि उनको असंगत धार्मिक रीतियों मे जकड़ दिया जाय किन्तु प्रयोजन यह है कि उनको अपने इरादों को दृढ़ करने की टेव डाली जाय। प्रत्येक नवयुवक की शिक्षा किसी की देखरेख में हो। मानव-सन्तान के साथ मशीन का सा बर्ताव करना उचित नहीं इसीलिए हमारे पूर्वजों ने साधारण ब्रह्मचर्य के नियमों में यह भी आवश्यक बतलाया है कि प्रत्येक बालक कुछ समय के लिए गुरुकुल में

गुरु नानक, गुरु गोविन्द सिंह, स्वामी दयानन्द, राजा राम-मोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि के उदाहरण भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे हुए हैं। येही हिन्दू-जीवन के रहस्य हैं। लेकिन जहां इन विशेष पुरुषों के जीवन में हम अप्रतिमता का उदाहरण पाते हैं—जो हमारी जाति के उच्च नैतिक और आत्मिक जीव के अमिट उदाहरण हैं—वहां हमें अपनी जाति की एक बहुत बड़ी संख्या में इनका पता भी नहीं मिलता। यदि बड़े से बड़े युरो-पीय महात्मा की तुलना हिन्दू महात्मा से की जाय तो हम हिन्दुओं को लज्जित होने का कोई कारण नहीं है, पर साधा-रण श्रेणी का युरोपियन स्वरगर्मी में साधारण हिन्दू की तुलना में बहुत श्रेष्ठ होता है। यही न्यूनता हमारी वर्तमान अवनति का कारण है। महाभारत युद्ध के बाद महाराज युधि-ष्ठिर मानसिक दौर्बल्य के कारण राज पाट छोड़कर नाश प्राय भारत को अपने भाग्य पर छोड़कर पर्वतमार्गानुगामी हुए। यही दौर्बल्य स्वरगर्मी की कमी का उदाहरण है।

मेरे विचार में किसी व्यक्ति या जाति की जीवनी शक्ति का अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि उस व्यक्ति या जाति में अरनेस्टनेस की मिक़दार और गहराई कितनी है। ऐसे प्रत्येक मनुष्य में, जिसमें संकल्प शक्ति वर्तमान है, दृढ़ जीवन का टिकाव उसकी दृढ़ता पर है। मेरी सम्मति में मनु-

ध्य-जीवन के प्रत्येक विभाग में, दृढ़संकल्प शक्ति या मानसिक बल ही जीवन-साफल्य में बहुत कुछ सहायक होता है और दृढ़ संकल्पशक्ति 'सरगर्मी' की मिक़दार पर अवलम्बित है। हिन्दुओं में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जिन्होंने सांसारिक प्रतिष्ठा, धन और पदवी प्राप्त करने में पूर्ण दृढ़ता दिखलाई है। अब भी हमारी आंखों के सम्मुख हिन्दू सांसारिकों के प्रतिष्ठा, सम्पत्ति और पदवी प्राप्त करने में समुचित 'सरगर्मी' प्रदर्शित करने के कितने ही उदाहरण हैं। इनमें कुछ तो शील, धर्म, सत्य और न्याय तक का ख़ून करते नहीं सकुचाते इस दशा में उनकी 'सरगर्मी' की प्रशंसा नहीं हो सकती। क्योंकि प्रशंसनीय, अनुसरणीय और मानव जाति के चरित्र को उच्च करने वाली 'सरगर्मी' वह है जो धर्म और शील के विरुद्ध न हो और जिससे किसी पर अन्याय न करना पड़े। धर्म और नीति को पददलित कर अपनी उन्नति के लिए तत्परता दिखाने वाले जाति के चरित्र को भ्रष्ट करते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि 'सरगर्मी' सत्य की नींव पर प्रतिष्ठित और धर्म पर अवलम्बित हो। युरोपिन जातियों की विशेषता यह है कि उनकी 'सरगर्मी' जाति या जनसंख्या के प्रतिकूल नहीं होती। इसी से एक की सरगर्मी जाति की 'सरगर्मी' की बुनियाद होती है। हिन्दुओं में, जो निजी भलाई का उत्कट-प्रयत्न करते है, उनमें अधिकांश इसका विचार ही नहीं करते कि उनका

रहे। मेरा विश्वास है कि प्राचीन काल में शास्त्रों लिखित ब्रह्मचर्य के नियमों की इतनी कड़ी पाबन्दी नहीं थी, जैसी हम समझ रहे हैं। प्रत्येक गुरू और आचार्य अपने शिष्यों की आवश्यकताओं पर विचार कर उन्हीं के अनुसार वर्ताव करता था। प्राचीन काल में मनुष्यों को शिक्षा दी जाती थी और वे मशीन द्वारा नहीं गढ़े जाते थे। युरोपीय जीवन में भी न्यूनाधिक ऐसा ही है पर हमारे लिए कठिनाई यह है कि हमारे पास ऐसे आदमियों की कमी है जो नवयुवकों को शिक्षा देने का दायित्व अपने ऊपर ले सकें। नवयुवकों की शिक्षा केवल विद्वत्ता के लिए ही नहीं, बल्कि उनके स्वभाव को बनाने के निमित्त वांछनीय है। युवक का योग्य पथ-प्रदर्शक वही हो सकता है, जिसको इतना अवकाश और इच्छा हो कि वह अपने शिष्य या पुत्र की देखरेख पर पर्याप्त समय व्यय कर सके। हमने यज्ञोपवीत देने की रीति तो प्रचलित रक्खी है पर उसकी मूलशक्ति ग्रहण न की है और न वर्तमान दशा में वह सम्भव ही है। उस युवक को अत्यन्त भाग्यवान समझना चाहिये जिसको वर्तमान दशा में कोई ऐसा सदाचारी पुरुष मिल जाय जो उसके पथप्रदर्शन का पुनीत कार्य अपने ज़िम्मे ले सके। परन्तु कठिनाई यह है कि गुरु मानने योग्य मनुष्य आजकल बहुत कम मिलते हैं। अतः स्वयम अपनी शिक्षा पर ध्यान देने के सिवा हमको युवकों के हक़ में कोई उपाय ही नहीं दीख पड़ता।

मेरे प्यारो ! मैं तुम्हारी आन्तरिक और ऊपरी शुद्धि तथा स्वास्थ्य-रक्षार्थ जैसा बलदायक और अच्छा भोजन दिलाना चाहता हूं वैसे ही इस बात को भी आवश्यक समझता हूं कि तुम अपने स्वभाव और रहन--सहन में सादगी रखने पर ध्यान दो। आय से जो अधिक व्यय करने लगते या भोग-विलास की आदत डाल लेते हैं, उनसे जीवन के व्यवहार में न्यायोचित 'सरगर्मी' की आशा रखना व्यर्थ है ।

जली कटी लिखना और कहना, सरगर्मी' का प्रमाण नहीं है। हमें अपने लेख और उक्ति में किसी सदाचारी के आदेशानुसार सहनशीलता की शिक्षा लेना उचित है। इसके साथ ही कहने और करने में भी सहनशक्ति से काम लेना 'सरगर्मी' के प्रतिकूल नहीं। इस विषय में हमको जापानियों से शिक्षा लेनी चाहिये। उनको 'सरगर्मी' में कोई संदेह नहीं, पर इतने पर भी उनमें अत्यन्त सहनशीलता है। दोनों बातें जीवन में साधन करने से आती हैं। नवयुवकों ! युवावस्था में साधनयुक्त होने से निजी सफलता ही नहीं बल्कि तुम्हारी जातीय सफलता भी तुम्हारे हाथों द्वारा होगी। इस लिये उच्चातिउच्च जातिभक्ति और देशभक्ति का तक़ाज़ा है कि तुम लोग इन बातों को ग्रहण करो। मैं स्वयम एक पापी गृहस्थ हूं, मुझे तुमको उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है। यह लिखने से मेरा उद्देश्य यही है कि अनुभव की दुकान पर जो कुछ मैंने कमाया है उसको

तुम्हारे हित के लिये शुद्ध भाव से तुम्हारी भेंट कर दूं। मुझे तुमसे इस लिए प्रेम है कि मेरी जाति और मेरे देश का भविष्य तुम्हारे सदाचार और सुस्वभाव पर ही अवलम्बित है। इस लिए मैं चाहता हूं कि तुम इन उच्च लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये अत्युत्तम सदाचार रक्खो, जिससे तुम अपनी जाति और देश की उन्नति के कार्य में प्रशंसनीय भाग ले सको।

वर्तमान भारत क्या चाहता है ?

भारत चाहता है:—

१ माता पिता—जो प्यार करें, पढ़ावें, परन्तु हुकूमत न करें।

२ शिक्षक—जो अपने शिष्यों को विचार करना और मतभेद रखना सिखावें और जो अपनी बातों को उनके द्वारा सत्य माने जाने की आशा न करें।

३ नेता—जो राह दिखावें न कि आदेश दें।

४ मित्र—जो पारस्परिक आदर और साहाय्य के सच्चे संकल्प से सम्मिलित हों, जो मतभेद से भिड़ न जायं, व्यक्तिगत बातों से रुष्ट न हो जायं और जो मत एवं हित के भिन्न होते हुए भी उदारता से सहायता करें।

५ वक्ता—जो सिद्धान्त, और कोरी बातें न बघारें।

६ सचिव—जो मनुष्य-समाज का, भेड़ियों के समान अपनी मिन्नतों (लवड़-धोंधों) का अनुसरण करने को कह कर, अनादर न करें।

७ पति—जो प्यार करें, सेवा करें य कार्य में भाग लें, और पत्नियों का व्यक्तित्व न कुचलें, न नादिरशाही ही चलावें।

८ देश भक्त—जो टुकड़ों और हीन बातों की अपेक्षा गूढ़ तत्वों पर अधिक ध्यान दें।

९ भारतीय युवक—जो ऐहिक लाभ की अपेक्षा मनुष्यता सम्मान एवं आत्मगौरव की अधिक परवाह करें; जो सेवा करने और दुःख झेलने के अवसरों को ढूंढ़ें; जो आत्मसंशोधन करके दूसरों के साथ न्याय करने की उदारता, और ख़तरा हो तो भी कार्य करने की, और मौलिकता की शक्ति को बढ़ावें।

१० पत्नियां—जो खुद को गुलाम, तुच्छ जीव या केवल बच्चे उत्पन्न करने की कल के, समान व्यवहार न करने देते हुए अपने प्रेम, सन्मान और स्वाभिमान के गुणों को बनाये रक्खें।

११ अधिकारी—जो अधिकारों पर अधिकार न करें, परन्तु प्रजा को स्वयं शासन करने का साहस दें।

१२ गवर्नर—जो शानशौक़त की फ़िक्र छोड़ कर न्याय, सत्य और सार्वजनिक भलाई की ओर अधिक ध्यान दें।

१३ वाइसराय—जो ग्रेटब्रिटेन की अपेक्षा भारत का अधिक ध्यान रक्खें।

१४ ज़मींदार—अपनी थैली की फ़िक्र की अपेक्षा किसानों की मानुषिक आवश्यकताओं की अधिक चिन्ता करें।

१५ सार्वजनिक कार्यकर्तागण—ख़िताब, सन्मान और जागीर की अपेक्षा सत्यता पर अधिक लक्ष रक्खें।

१६ विद्या प्रचारक—आचार्य एवं निपुण बनने की कम कोशिश करें और मनुष्य अधिक बनें।

१७ व्याख्यानदाता—सिद्धान्तवादी कम हों, और विचार एवं सत्य के सच्चे प्रतिपादनकर्त्ता अधिक हों।

१८ संवाददाता—जो तत्वों पर विशेष ध्यान दें न की अपनी इच्छा के अनुसार घटनाओं को स्थिर करें।

१९ सम्पादकगण—असल बात की अधिक परवाह करें न की व्यक्तिगत झगड़ों को लिखें।

२० संस्थाएं—जो देश के हित की, भले की, अधिक चिन्ता करें बनिस्वत अपनी सत्ता, थैली और नाम के।

लाला हरदयाल जी
के
स्वाधीन विचार

भारत के शिक्षित समुदाय में ऐसा कौन है जो देशभक्त हरदयाल जी को नहीं जानता। उनके लेख अंग्रेज़ी के मासिक पत्र माडर्न रिव्यु में सभी देश-हितैषी बन्धु बड़े चाव से पढ़ते रहे हैं। उन्हीं लेखों में से नौ लेखों का अनुवाद "स्वाधीन विचार" नामक एक छोटी सी पुस्तक के रूप में नौ वर्ष हुए तब प्रकाशित हुआ था। पुस्तक समाप्त होने पर बहुत सी मांगें आती रही परन्तु पुस्तक दुबारा न छप सकी।

इस बार पुस्तक में लाला हरदयाल जी के दूसरे आठ लेखों का अनुवाद करके सब को एक साथ प्रकाशित किया जाता है। इससे पुस्तक २०० पेज की हो गई है। सुन्दर खद्दर की जिल्द बंधी हुई है। मूल्य १) एक रुपया।

अत्याचार का परिणाम

इस सामाजिक नाटक में एक अत्याचारी ज़मींदार का अपनी प्रजा पर अत्याचार और एक दयावान ज़मींदार का प्रजापालन दिखलाया गया है। नाटक रङ्ग मञ्च पर खेलने योग्य और सामयिक है।

मूल्य बिना जिल्द ॥=) और सजिल्द १=)

स्वामी रामतीर्थ जी

का

राष्ट्रीय सन्देश।

इस पुस्तक में स्वामी रामतीर्थ जी के उत्तम उत्तम लेख और उनका संक्षिप्त जीवन-चरित है। इनमें से अधिकतर लेख स्वामी जी ने अमेरिका ही से या अमेरिका से आने के पश्चात् लिखे थे। इसमें स्वामी जी का देश-प्रेम और असली वेदान्त टपकता है। पुस्तक तीन वार छप चुकी है मूल्य बारह आना।

मिलन मन्दिर

स्त्री शिक्षा सम्बन्धी एक अनूठा उपन्यास।

इस उपन्यास में भाई भाइयों के मिलकर रहने के लाभ, स्त्री के वश में आकर एक भाई का दूसरे पर अत्याचार, पति को दुखी करके स्त्री की और स्त्री को दुखी करके पति की दुर्दशा, सती स्त्री का अपना सतीत्व क़ायम रखने के लिए महान कष्ट उठाना आदि अनेक शिक्षा-पूर्ण और रोचक बातों का समावेश है।

एन्टिक कागज़ पर छपी हुई ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल १॥।), सजिल्द का २) रुपया।

मिलने का पता—भीष्म एण्ड ब्रदर्स, पटकापुर, कानपुर